✻ दो शब्द ✻

मेंहदी को पत्थर पर घिस कर और स्वर्ण को अग्नि में तपाकर कान्ति मिलती है किन्तु घिसने और तपने के बाद भी मेरी बुद्धि को कुछ मिला है मुझे प्रतीत नहीं होता। हाँ भाँति भाँति की विलक्षण प्रतिभाओं से टकरा-टकरा कर अपने अवरोधों से बचकर मार्ग बनाने का अवसर अवश्य मिला है।

मैं अपने उन शोध-छात्रों का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने हजार प्रयत्न करने पर भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा। तत्परता और अध्यवसाय से उन्होंने अपना लक्ष्य सिद्ध किया। इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं किन्तु वे मुझे गुरु-दक्षिणा दे गये हैं। उसका विस्मरण मैं आजीवन नहीं कर सकता। उसे मैंने इस कृति में सन्निहित कर दिया है। खोजने वाले को वह अवश्य मिलेगी।

इस कृति को मैं अपने एक दशाब्दी से ऊपर 'शासकत्व' का 'प्रसूतम' कहूँ अवदान कहूँ या गुरु-दक्षिणा ? जो रुचिकर प्रतीत हो पाठक कहलें। जिनके विशेष सम्पर्क से मुझे मस्तिष्क और हृदय का यह वरदान प्राप्त हुआ है, जिसे मैं अध्यापक के जीवन का वरदान मानता हूँ अपने उन भूले-भटके एवं कभी-कभी हतोत्साह छात्रों को मैं विशेष रूप से याद रखूँगा। सच तो यह है कि यह कृति मेरी सूझ-बूझ का फल नहीं है, वरन मेरे बोध की उस पिपासा का फल है जो भाँति-भाँति के शोधार्थियों के सम्पर्क से उसको बुद्धि की कसौटी पर कस कर यथावसर मिलती रही है। मैं उनको 'धन्य' को साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

इस कृति को अन्तिम निर्णय न मानकर मेरे अनुभव की अभिव्यक्ति ही समझना समीचीन होगा। आप न सही शोधार्थियों को इससे लक्ष्य की दिशा तो मिल ही सकेगी। उसी को मैं अपने श्रम की सार्थकता समझूँगा।

मैं डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के उस आभार को कदापि नहीं भुला सकता, जो उन्होंने भूमिका लिख कर मुझे प्रदान किया है। वह प्रदर्शित न होकर मेरे हृदय की गूढ़ सम्पत्ति ही रहे।

मेरे मित्र और शिष्य डा० कन्हैयालाल शर्मा ने विषय-सूचीकरण में तथा श्री नरेन्द्र कुमार ने प्रूफ-संशोधन में मेरी बड़ी सहायता की है। मैं उनका आभारी हूँ।

लेखक

भूमिका

मेरे मित्र डा० सरनामसिंह शर्मा ने शोधकार्य के लिये उत्सुक लोगों के मार्गदर्शन के लिये यह पुस्तक लिखी है। इसमें शोध-कार्य के विभिन्न पहलुओं को समझाने का पूर्ण प्रयास है। मुझे आशा है कि शोधार्थियों को इससे बहुत सहायता मिलेगी।

शोध-कार्य इन दिनों लोकप्रिय हो रहा है। अपने पढ़े-लिखे लोगों को उपयुक्त काम न मिलने के कारण एक प्रकार की जीविका-विषयक गहरी प्रतिद्वन्द्विता आती जा रही है। प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति किसी दिशा में अच्छी विशेषज्ञता प्राप्त करना चाहता है। प्राप्त किए बिना वह आगे नहीं बढ़ पाता। इसलिये जो लोग साहित्य और भाषा के क्षेत्र में काम करना चाहते हैं वे कोई तत्सम्बन्धित विषय लेकर विशेषज्ञ बनने का प्रयास करते हैं। विश्वविद्यालय उनके प्रयासों की जाँच करते हैं और उपयुक्त सिद्ध होने पर विशेषज्ञता का प्रमाणपत्र और उपाधि देते हैं। इसलिये क्रमशः यह कार्य विश्वविद्यालयों में दृढ़ होता जा रहा है परन्तु शोध-कार्य का मुख्य उद्देश्य जीविका प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता में सफलता पाना नहीं है। यह उसका आनुषंगिक फल हो सकता है मुख्य उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य की अस्पष्ट धारणा से अनेक समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। विश्वविद्यालय भी चिन्तित हैं। अधिक-से-अधिक नियन्त्रण लगाकर वे इस कार्य को अनुचित दिशा में जाने से रोकने का प्रयास करते रहे हैं परन्तु बाहरी दबाव का जोर कम होता नहीं दिख रहा है। बेकारी बढ़ रही है, प्रतिद्वन्द्विता तीव्र से तीव्रतर होती जा रही है और विशेषज्ञता का प्रमाणपत्र पाने के प्रयास भी उसी प्रकार गाढ़ से गाढ़तर होते जा रहे हैं।

शोध-कार्य का मुख्य उद्देश्य है ज्ञान का विस्तार और परिशोध। नये तथ्यों की खोज से ज्ञान का विस्तार होता है और अज्ञात तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में पुरानी मान्यताओं का परिशोध होता है। इसका उपयुक्त अधिकारी वह है जिसके चित्त में सहजभाव से जानने की इच्छा या 'जिज्ञासा' की मात्रा बहुत अधिक होती है। जो विद्यमान जानकारियों से सन्तुष्ट नहीं होता उसी में जिज्ञासा वृत्ति का उदय होता है। वह अधिकाधिक जानने को सदा प्रयत्नशील रहता है।

स्पष्ट है कि जब तक किसी विषय के सम्बन्ध में समस्त उपलब्ध ज्ञान को आयत्त नहीं कर लिया जाता तब तक कुछ और नया शोध देने का प्रयास व्यर्थ होता है। यही कारण है कि जिज्ञासु को बहुत अध्ययनशील होना पड़ता है। अपने प्रस्तुत क्षेत्र विषय पर उसे पूरा अधिकार होना चाहिये तभी वह कुछ नया दे सकेगा। यह खेद का विषय है कि नव शोधार्थी जीविका प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता में तुरन्त विजयी होने की इच्छा से अनुसन्धेय विषय की पूरी जानकारी नहीं प्राप्त करते और तदतिरिक्त खेद का विषय यह है कि सब जगह उन्हें उपलब्ध ज्ञान की जानकारी की सुविधा भी नहीं प्राप्त होती। अच्छे पुस्तकालय और उत्तम प्रयोगशालाएँ विरल हैं।

शोध कार्य मानसिक स्वच्छशीलता, अनुशासन और संयम की अपेक्षा रखता है। अन्वेषणीय विषय की पूरी जानकारी ही पर्याप्त नहीं होती, प्राप्त तथ्यों को यथासम्भव प्रमाणक चित्त से देखने की भी जरूरत होती है। किसी विशेष प्रकार के मनोभाव की दृष्टि से देखा हुआ सत्य यथार्थ नहीं भी हो सकता है। पहले से ही कोई धारणा बनाकर चलने से सच्चाई तक पहुँचना सम्भव नहीं होता और विरुद्ध दिशा में जाने वाले तर्क या तो तत्काल उपस्थित ही नहीं होते या उन्हें दबा देने का प्रयत्न किया जाने लगता है। इसलिए शोध-कार्य में बहुत संयम और सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। प्राप्त तथ्यों का ठीक-ठीक विश्लेषण करना बहुत आवश्यक होता है और पूर्वाग्रह से सदा मुक्त रहने का प्रयत्न वाञ्छनीय होता है।

डा. सरनामसिंह जी ने बड़े परिश्रम से शोध-विषयक समस्याओं और अन्वेषणीय विषयों की प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। नवीन शोधार्थी को इस पुस्तक से बहुत सहायता मिलेगी। मुझे आशा है कि इस पुस्तक का समादर होगा और जिन लोगों के लिये यह लिखी गई है वे इससे पूर्णतः लाभान्वित होंगे। इसके विद्वान लेखक का परिश्रम तभी सार्थक होगा जब शोधार्थी गम्भीरता पूर्वक अपने अन्वेषण्य को समझने का प्रयत्न करेंगे और सत्य वस्तु की ओर बढ़ने में विजयी और सफल होने की आशा की जाती है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

चण्डीगढ़

२ १०-६१

विषय सूची

खण्ड १

(९)

खण्ड २

हिन्दी-शोध-कार्य-विवरणिका

खण्ड १

शोध प्रक्रिया

1 शोधक और निर्देशक

'शोध' व्युत्पत्ति और अर्थ

यह तत्सम संज्ञा शब्द है जो 'शुध' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। शोधन शुद्धि शुद्ध शोधित शोधी शोधक आदि शब्द इसी परिवार के हैं। 'सोधी' 'सुधि' 'सोधा' आदि तद्भव शब्द भी 'शुध्' धातु के ही बदले हैं। इसका प्रयोग प्रमाणित करना शुद्ध या परिष्कृत करना खोजना आदि अर्थों में मिलता है। आयुर्वेद दर्शन और साहित्य में तो इसका प्रयोग बहुलता से मिलता ही है, दैनिक व्यवहार में भी मिलता है।

विविध क्षेत्रों में जहाँ इसका पारिभाषिक अर्थ है, वहाँ व्यवहार में इसका सामान्य अर्थ भी है। 'शोध' शब्द का प्राचीन अर्थ प्रमाणित करना परिष्कृत करना अथवा खोजना है जो अब भी प्रयुक्त होता है किन्तु विश्वविद्यालय क्षेत्र में यह शब्द 'रिसर्च' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। इस शब्द ने अपने अर्थ की दिशा नहीं बदली है किन्तु विशेष क्षेत्र में रिसर्च या अनुसंधान का पर्यायी होकर अर्थ विशेष का द्योतन आरंभ कर दिया है।

संस्कृत साहित्य में 'शुध' धातु के संयत शब्द दो अर्थों से संलग्न प्रतीत होते हैं और वे हैं प्रमाणीकरण तथा परिष्करण। 'निक्षपशोधनमित्याह शाकायन' में 'प्रमाणीकरण' तथा 'मन सत्येन शुध्यति' में 'परिष्करण' का अर्थ स्पष्ट है। किन्तु 'मन्दिर मन्दिर प्रति करि सोधा' में 'सोधा' का अर्थ 'खोजा' है। रिसर्च के अर्थ में प्रयुक्त 'शोध' शब्द ने उक्त तीनों अर्थों को समाहित कर रखा है। शोध-कार्य में न केवल 'खोजना' आवश्यक है वरन् उसके साथ 'परिष्करण' और 'प्रमाणीकरण' भी संयुक्त है। इसमें खोजे हुए तथ्यों को परिष्कृत एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके प्रमाणित भी करना पड़ता है।

बोली में 'शुध्' धातु से ही 'सुधि' बन गया है जो स्मरण या याद करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग भाषा-साहित्य में बहुत हुआ है। तुलसीदास ने 'सोधि सुमृति सब बेद पुराना' में 'सोधि' शब्द को इसी अर्थ की सीमाओं से संयुक्त कर रखा है। 'सोधी' सई न जाहि' में कबीर भी 'सोधी' शब्द के मूलार्थ से दूर नहीं गये हैं। 'रिसर्च' के अर्थ में 'शोध' शब्द के पर्यायी 'अनुसंधान' 'अन्वेषण' और 'गवेषणा' का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार 'शोध' शब्द ने विशेष क्षेत्र में आकर भी मूलार्थ का विसर्जन नहीं किया है। जिस व्यापक अर्थ को 'शोध' शब्द द्योतित करता है गवेषणा अनु-

संधान या अंग्रेजी शब्द 'रिसर्च' भी उसको घोषित नहीं कर पाता है। इसी अभिप्राय से 'प्रक्रिया और 'विवरणिका' के साथ 'शोध' शब्द का प्रयोग किया गया है।

शोध की प्रकृति

शोध की प्रकृति 'सत्य' की प्रतिष्ठा करना है। सत्य के प्रत्येक पहलू 'तथ्य' कहलाते हैं। सत्यान्वेषण के लिए तथ्यावगति अभीष्ट है। जिस प्रकार ईश्वर-शोधी जड़–चेतन के माध्यम से ईश्वर की खोज करता है उसी प्रकार शोधक तथ्यों के माध्यम से 'सत्य' की गवेषणा करता है। तथ्य अनन्त हैं। संयोग और सादृश्य पर अवलम्बित होने से वे सापेक्ष हैं। तथ्यों की पारस्परिकता का ज्ञान ही किसी परिणाम पर पहुँचा सकता है। तथ्य अनन्त हैं और सत्य अखंड। तथ्यों का संकलन अनुसंधान नहीं होता। वहाँ तथ्यों को ही लक्ष्य बना लिया जाता है वहाँ मूल लक्ष्य (सत्य) स्वरूप से ओझल हो जाता है।

तथ्यों से सत्य पर पहुँचना एक प्रक्रिया है। विविध तथ्यों के संचय की यह व्याख्या ही सत्यावगति का साधन होती है, शोध का आवश्यक अंग है। अतएव शोधक का शोध केवल तथ्य–संकलन से ही नहीं हो जाता अपितु वह उनकी व्याख्या करता हुआ अपनी सत्य-निष्ठा से सत्याभिव्यक्ति करता है। किसी भी शोध-कार्य से हम सत्य की पूर्ण-अभिव्यक्ति की आशा नहीं कर सकते हैं क्योंकि सत्य एक और असीम है। शोधक का प्रयत्न उसके छोटे से छोटे अंश को देखना होना चाहिये। जो तथ्य इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों वस्तुतः वे ही संग्राह्य हैं। जो तथ्य सत्यावगति में बिल्कुल सहायक नहीं होते अथवा जिनका काम दूसरों से अच्छी तरह लिया जा सकता है, उनसे शोध-ग्रन्थ को बोझिल बनाना समीचीन नहीं है। कभी-कभी ऐसे तथ्यों की बाढ़ में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य छिप कर रह जाते हैं। उनके संबंध में सावधान रहना चाहिये। तथ्यों की पुनरावृत्ति भी शोभनीय नहीं होती। उससे प्रस्तुतीकरण प्रभावहीन हो जाता है। तथ्य-संकलयिता न शोधक ही होता है और न आलोचक ही वह केवल तथ्यवादी कहला सकता है। आजकल तथ्यवाद शोध-कार्य में एक संक्रामक रोग की भांति फैल रहा है। इससे शोध-कार्य की मुक्ति होनी चाहिये अन्यथा शोधकों की स्थिति 'आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास' जैसी बन जायेगी।

शोध के प्रकार

शोध के दो मूल रूप दृष्टिगोचर होते हैं—प्रयोगात्मक एवं व्याख्यात्मक। दोनों ही सत्य का अनावरण करते हैं। पहले में तथ्यों का प्रयोग करके सत्य अनावृत किया जाता है और दूसरे में व्याख्या के द्वारा सत्य को व्यक्त किया जाता है। वैज्ञानिक प्रयोगात्मक स्वरूप को अपनाते हैं और दूसरे लोग व्याख्यात्मक को। ये दोनों स्वरूप एक दूसरे से एकदम पृथक नहीं हैं क्योंकि विज्ञान के शोध कार्य में भी किसी अंश

एक व्यवस्था अपनानी ही पड़ती है और विज्ञानेतर शोध-कार्यों में किसी अंश तक विज्ञान या वैज्ञानिकता का आश्रय लेना आवश्यक है।

इसलिए भिन्न-भिन्न विद्याओं और अवस्थाओंकी पृथकता होते हुए भी ये दोनों स्वरूप कुछ-कुछ साम्य रखते हैं। प्रयोगोंसे कुछ सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं जो व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं और आख्यात्मक शोध-कार्य को वैज्ञानिक प्रक्रिया नियमतता प्रदान करती है। अनुसंधानकी ये दोनों विधाएं एक विशेष सीमातक, आलोचना या विवेचनाको संगृहीत रखती हैं। इसीलिए पहले यह कहा गया है कि शोध-कार्य केवल तथ्योंकी खोज ही नहीं है, अपितु उनका पर्यवेक्षण एवं सर्वेक्षण भी है। कोई भी तथ्य अपने तथ्य-परिवार या लोक में अपना निश्चित स्थान रखता है। अन्य तथ्यों की संगति में तथ्य विशेष की ऐसी व्याख्या जो उसके स्थान को व्यक्त करदे, अत्यन्त आवश्यक होती है। शोध-कार्य में आलोचना इसी कार्य को सम्पन्न करती है। तर्कपूर्ण मीमांसा अपने लिए तथ्याधार चाहती है और तथ्य संकलन अपनी आलोचना की अपेक्षा रखता है। इसी संबंध में शोध और आलोचना की महत्ता सिद्ध होती है। आख्यात तथ्य हो चाहे अनाख्यात दोनो में आलोचना अपेक्षित है। पुनराख्यान में आलोचना की आवश्यकता अधिक होती है और अनाख्यात में उससे कम। तथ्यो के ये दोनो वर्ग ज्ञात तथ्यों के अन्तर्गत आते हैं। इन दोनों के लिए आलोचना की जितनी अपेक्षा रहती है, अज्ञात तथ्यों के लिए उससे नहीं कम रहती है। फिर भी आलोचना की सर्वथा उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती।

<u>साहित्यिक शोध</u>

आख्यात्मक शोध के अन्तर्गत ही साहित्यिक शोध का स्थान निश्चित होता है किन्तु आजकल साहित्यिक शोध के अन्तर्गत कुछ वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ भी समाविष्ट करली गई हैं। भाषा-तत्वज्ञान या भाषा-विज्ञान साहित्य का एक ऐसा ही पहलू है जो अधिकांशत विज्ञान से ही सम्बन्धित है। हमारे यहां तो साहित्य को कला से पृथक माना गया था अन्यथा भर्तृहरि को एक ही पद में 'साहित्य' और 'कला' का पृथक अभिधानों का प्रयोग न करना पड़ता। जो हो, साहित्य को, चाहे पश्चिम के अनुकरण में कला कहें अथवा भारतीय स्तर में विद्या शोध के क्षेत्र में उसे किसी न किसी अंश में वैज्ञानिकता का आश्रय लेना ही पड़ता है। आधुनिक शोध-कार्य की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। वैज्ञानिक का काम केवल वस्तुओं का अनुसंधान या निर्माण ही नहीं है वरन् उनके स्थान का निर्धारण और उनकी पारस्परिक संगति बैठाना भी है। वैज्ञानिक पद्धति पर किये गये साहित्यिक अनुसंधान में इसी प्रक्रिया को अपनाया जाता है इसलिए साहित्यिक शोध एक ओर विज्ञान की सीमाओं का संस्पर्श करती है तो दूसरी ओर सौन्दर्य के विश्लेषण के लिए कल्पनात्मक व्याख्या, वैज्ञानिक निष्पत्ति एवं कलात्मक अभिव्यंजना को भी महत्व देती है।

साहित्यिक शोध का संबंध-क्षेत्र

साहित्य जीवन-जितना ही व्यापक है। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जहाँ साहित्य की पहुँच न हो। 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' कहकर कविकार ने साहित्य की व्यापकता ही उद्घोषित की है। साहित्य प्राचीन ग्रन्थों और कल्पनाओं को लेकर इतिहास से, मानवीय संबंधों एवं प्रतिक्रियाओं की योग्यता अयोग्यता अपेक्षा-उपेक्षा और संभावना को लेकर समाज-शास्त्र से, प्रकृति के परिवेश में स्थानों नदियों पहाड़ों, मैदानों, वनों, मार्गों आदि को लेकर भूगोल से, अनेक युग क्रान्तियों के कारणों और परिणामों की आलोचनात्मक व्याख्या कर के राजनीति से एवं भौतिक तत्वों एवं पदार्थों के संबंधों के परिणाम को लेकर विज्ञान से अपना संबंध जोड़ता है। इन थोड़े से उदाहरणों से साहित्य के संबंधों का अनुमान लगाया जा सकता है।

अतएव साहित्यिक शोध का क्षेत्र साहित्य होता हुआ भी सीमित नहीं है। साहित्यिक शोध का विद्यार्थी अपने विषय से संबंधित प्रत्येक पहलू पर विचार करता है। दर्शन का विद्यार्थी न होने पर भी उसे अपनी कृति में दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अनेक बातों पर विचार करना होता है। इसी प्रकार उसे अन्य बातों की विवेचना इसलिए करनी होती है कि वे उसके विषय के क्षेत्र में आती हैं। उदाहरण के लिए 'कबीर' पर शोध करने वाला व्यक्ति कबीर-कालीन परिस्थितियों पर विचार किये बिना अपना काम सम्पन्न नहीं कर सकता जो उसे राजनीति समाज इतिहास धर्म दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में घुमा देता है। उसे इन सबके संबंध का भी विवेचना करनी पड़ती है और इनके प्रभाव और परिणाम के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप की मीमांसा भी करनी पड़ती है। इस कारण साहित्यिक शोध का विद्यार्थी अपने को केवल कुछ साहित्यिक ग्रन्थों तक सीमित करके ही अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। यह ठीक है कि उसका कार्य उसे मतान्तर सीमाओं में जाने के लिए बाधित नहीं करता किन्तु अपने विषय की रूप-रेखा में तो उसे घूमना ही पड़ता है।

साहित्यिक शोध के भेद

साहित्यिक शोध के अनेक प्रकार हो सकते हैं। छोटे-मोटे भेद से उसके अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं, किन्तु उनमें से प्रमुख चार हैं। उन्हीं के अन्तर्गत शेष का समावेश हो सकता है। उनमें से पहला प्राचीन अज्ञात ग्रन्थों की गवेषणा और पुष्टिमत्मक वर्गीकरण, दूसरा ऐतिहासिक प्रमाणों पर प्राचीन मान्यताओं में उत्पादित तीसरा ज्ञात या अज्ञात ग्रन्थों (साहित्य) में अज्ञात तथ्यों की गवेषणा चौथा नये दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति अथवा प्रस्तुतीकरण की नवीनता है। एक अन्य भेद वैज्ञानिक अध्ययन पर किया जा सकता है, और ध्वनि-विज्ञान अर्थ-विज्ञान लिपि-विज्ञान अथवा

मनो-विज्ञान के आधार पर किसी ग्रन्थ कवि कविसमय या भाषा पर नया प्रकाश डाला जा सकता है। आज वैज्ञानिक आधार पर साहित्य का मनोवैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय अध्ययन बहुत सम्भाव्य होता जा रहा है। इनके अतिरिक्त शोध का एक भेद सूचना-संकलन भी बन गया है जैसे हिन्दी-आलोचना की परंपरा और प्रगति हिन्दी में विज्ञापन का विकास। यह कार्य विकीर्ण सूचना का निर्वाचन करने में बहुत सहायक होता है। इससे आगे की पीढ़ियों को बड़ी भारी ऐतिहासिक सहायता मिलेगी।

साहित्यिक शोध की प्रकृति

साहित्यिक शोध का क्षेत्र विस्तीर्ण एवं दिशाएँ अनेक होती हुई भी उसकी प्रकृति गवेषणा और समालोचना का एक संपुटित रूप धारण करती है। विषय भेद से उसमें ये दोनों अंग घट-बढ़ सकते हैं किन्तु किसी का एकान्ताभाव नहीं हो सकता। इन दोनों का बड़ा बहुत सम्बन्ध है। तथ्य इन दोनों को सम्बन्धित करता है। गवेषणा तथ्य को समक्ष लाती है उसको निरख-परख कर देती है। तथ्य की वास्तविक स्थिति का परिचय देना ही समालोचना का काम नहीं है, प्रत्युत उसके गुणावगुण का वर्णन करना उसके उपयोगी पक्ष को प्रकाश में लाना भी तो उसी का काम है। गवेषणा आलोचना के लिए आधार तैयार करती है और आलोचना गवेषित की परीक्षा करती है। एक के बिना दूसरी का काम अधूरा ही रहता है। साहित्यिक शोध में एक से दूसरी का पूरकत्व सिद्ध होता है। अतएव साहित्यिक शोध की प्रकृति दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों को ही स्वीकार करती है। यों तो साहित्येतर शोधों में भी समालोचना का स्थान और महत्त्व नियत है, किन्तु साहित्यिक शोध में उसकी विशेषता प्रतिष्ठापित नहीं हो सकती।

साहित्यिक शोध की प्रवृत्ति

मनुष्य के सभी काम उसके जीवन से सम्बन्धित हैं। जीवन-निर्वाह या जीवन के विकास में जो कार्य उपयोगी होते हैं अथवा जिनमें उपयोग की परीक्षा की जाती है मनुष्य उन्हीं को करता है। इस दृष्टि से शोधार्थी भी साहित्य के द्वारा उन निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयास करता है जिनका जीवन में कोई न कोई महत्त्व है, जो जीवन के पक्ष हैं अथवा जो जीवन के लिए उपयोगी हैं। साहित्यिक शोधार्थी उनको सामने रखकर उनकी उपयोगिता पर विचार करता है तथा उनकी और उनके स्रष्टा की प्रेरणाओं का मूल्यांकन करता है। इन शोधों से ज्ञान और आचरण पर भारी प्रभाव पड़ता है। जो लोग साहित्य को केवल साहित्य के लिए मानते हैं वे उसकी प्रेरणा पर सम्यक विचार नहीं कर पाते हैं। न जाने वे क्या उसकी उपयोगिता को भूला देते हैं। वास्तव में साहित्य कला के रूप में भी अपनी उपयोगिता सुरक्षित रखता है। आवश्यकता और उपयोगिता का भी बहुत समन्वय

है। उपयोग जीवन का विकास है, जीवन का साथी है। मानवता उपयोग को नहीं भुला सकती। साहित्य उपयोग का मधुर साधन है, इसलिए साहित्यिक शोधार्थी साहित्य में उन्हीं तथ्यों की गवेषणा और आलोचना करता है जिन्हें समाज ने उपयोगी मान लिया है अथवा जो किसी भी सामाजिक कार्य में अपना उपयोग सिद्ध करते हैं। अलंकार से लेकर रस तक, प्रकृति-वर्णन से लेकर भाव-वर्णन तक रीति-रिवाजों से लेकर आत्मोपासना तक साहित्य के सभी पहलू जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इसीलिए मनुष्य ने उनका वर्णन किया है। बहुत सी अनुपयोगी बातें भी साहित्य में प्रसंग-वश आ जाती हैं। वे भी उपयोग की दिशा प्रदर्शित करने के लिए ही होती हैं।

कुछ लोग उपयोग को स्थूल रूप में ही देखने का प्रयत्न करते हैं। उनका ऐसा दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है। उपयोग का एक पहलू भावात्मक भी है। यदि ऐसा न होता तो आज का राष्ट्रीय युग भावात्मक एकता (emotional integration) को इतना महत्त्व न देता। यदि उपासना का उपयोग जीवन में न होता तो समाज ने इसे कभी स्वीकार न किया होता। इसलिए उपयोग को केवल भौतिक दृष्टि से देखना समीचीन नहीं है। इसे देखने के लिए एक सूक्ष्म भावात्मक दृष्टि भी होनी चाहिये। साहित्यिक शोध के विद्यार्थी के लिए तो यह अनिवार्य है। उपयोग शोध का प्रारम्भ होता है, उसकी प्रेरणा बनता है और शोध के निष्कर्ष भी उपयोगनिष्ठ होते हैं।

साहित्य को लोग मनोविनोद की सामग्री या खिलौना समझते हैं। वे समझते हैं कि [illegible] बोझ का पुण्य बैठा है। यदि ऐसा होता तो मम्मटाचार्य-जैसा काव्य-मनस्वी काव्य के प्रयोजन की प्रशंसा 'सद्यः परनिर्वृतये' आदि शब्दों में न करता। अतएव साहित्यिक शोध की दिशा में उपयोग का स्थान विशेष महत्त्व का होना चाहिये।

साहित्यिक शोध में एक विशेष भय यह रहता है कि शोधार्थी उसमें कभी-कभी कवि-कल्पना के साथ बहने लगता है। सत्य-सामग्री की गवेषणा करना और उसके महत्त्व की प्रतिष्ठा करना एक बात है और उसमें बहना दूसरी बात है। शोध का लक्ष्य अपेक्षित की परीक्षा करना है। बह जाने पर शोधार्थी के हाथों में सही निष्कर्ष नहीं आते। शोधार्थी को विशेषता तथा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले लेखक को, साहित्य में डूबना पड़ता है। तभी वह मरजीवा की भांति तथ्य-मुक्ता प्राप्त कर सकता है। बहने वाले को तथ्य-मुक्ता नहीं मिल पाते। साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह अपने भावों की प्रबल तरंगों से पाठक के मन को बहा लेजाता है। लेखक को तटस्थ द्रष्टा की भांति जीवन-लोक का अवलोकन करते हुए सीमाओं रेखाओं और मर्यादाओं की परीक्षा करनी पड़ती है। तभी वह सही निष्कर्षों पर पहुँच पाता है।

कवि या साहित्यकार तो भावुक होता है। उसे अपनी दृष्टि बड़ी प्रिय लगती

केन्द्र-बिन्दु मानव है और अनुसंधान का कोई भी पहलू 'मानव' और 'मानवीय परिवेश' से विच्छिन्न नहीं रह सकता। साहित्यिक शोध में शोधार्थी अन्तरावलोकन बहिरावलोकन तथा पुनरावलोकन से बहुत लाभ उठा सकता है।

आधुनिक शोध की प्रवृत्ति

अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि मानव का प्रत्येक कार्य आवश्यकता और उपयोगिता से प्रेरित होता है, किन्तु उसके सौन्दर्य या सौन्दर्य-विकास में कोई बाधा नहीं आनी चाहिये। सौन्दर्य तो मानव का उज्ज्वल आदर्श है। उपयोगिता उसके आधार के बिना उभार नहीं हो सकती। उपयोगिता का भी तो कोई मानदण्ड होना चाहिए। उपयोग के अनेक रूप हो सकते हैं किन्तु स्थूल रूप से सार्वजनिक एवं वैयक्तिक ये दो भेद प्रमुखतः दृष्टिगोचर होते हैं। किसी वस्तु का वैयक्तिक उपयोग भी हेय नहीं है, बशर्ते कि वह सामाजिक उपयोग की सीमा में बाधक न हो क्योंकि समय बीतने पर उसका उपयोग नहीं रहता। उसका मूल्य केवल एक बार के उपयोग से आँक लेना उचित नहीं है। आज शोध-प्रबन्धों की धूम है। हिन्दी में इनकी संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यह लक्षण तो बुरा नहीं है, किन्तु जो कार्य हो रहा है वह सब का सब उपयोगी एवं सुन्दर नहीं है। कुछ के सम्बन्ध में स्वयं लेखक ही कह बैठता है कि 'यह कार्य मैंने जल्दी में किया है'। यह कोई तर्क नहीं है। अपने कार्य को जैसे-तैसे या जैसा-तैसा कर डालना शोधार्थी का लक्ष्य नहीं होना चाहिये। इससे शोध-कार्य शिथिल होता है, 'हिन्दी' पर कलंक लगता है। शोध की इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिये।

इसके अतिरिक्त दूसरी प्रवृत्ति 'सरलतम विषय' लेने की बन रही है। अधिकतर अनुसंधित्सु अपने कमरे के भीतर अपनी टेबिल पर ही अपने कार्य को सम्पन्न कर लेना चाहते हैं। इसलिए या तो वे स्वयं कोई सरल विषय ले आते हैं या निर्देशक को कोई सरल विषय बताने के लिए अनुनय-विनय करते हैं, अन्यथा कभी-कभी वे निर्देशक को ऐसा विषय बताने के लिए विवश भी कर देते हैं।

सरल विषय लेना कोई बुराई नहीं है, किन्तु विषय में अनुसंधेयता का न होना बहुत बुरा है। ऐसा विषय भी कभी-कभी सूक्ष्म प्रतिभा-सम्पन्न शोधक के हाथों में आकर चमक उठता है, किन्तु जिनमें क्षमता नहीं होती वे शोधक अपने को विषय को और 'डिग्री' को बदनाम कराते हैं। अतएव सरल विषय की अभ्यर्थना निर्देशक को स्वीकार्य नहीं होनी चाहिये क्योंकि इस प्रवृत्ति का प्रसार घुन के रोग की भाँति होता है। योग्यता के साथ प्रश्नवाचक चिह्न का लगना हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए उज्ज्वल भविष्य का संकेत नहीं है। केवल यह कह कर सन्तोष कर लेना कि इतने शोध-ग्रन्थों में से कुछ तो अच्छे निकल ही रहे हैं, शोभनीय नहीं है। ऐसे कार्य में श्रम और योजना का केवल दुरुपयोग होता है। यह प्रवृत्ति वर्जनीय है।

सुधार

घास-फूंसे की राशि से साहित्य का भण्डार भरना सम्भावस्पद है। हम लोग प्राधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रगति को देख कर गर्व से ऊँचा सिर कर लेते हैं। वास्तव में यह गर्व की बात भी है। किसी भाषा के साहित्य में इतने थोड़े समय में ऐसी प्रगति दिखलायी हो यह कम से कम मुझे तो विदित नहीं है, किन्तु हिन्दी साहित्य को प्र प की-जैसे साहित्य की तुला में रख देखने पर हमारा सिर उसी भाँति ऊँचा नहीं रह सकता क्योंकि प्र प की में श्रम और योग्यता दोनों के सामंजस्य का परिणाम ही शोध प्रबन्ध होता है और हमारे यहाँ घास-फूंसे की भी प्रतिष्ठा हो रही है। नौकरी या पदोन्नति के लिए डाक्टरेट की डिग्री लेना बुरा नहीं है, किन्तु घास-फूंसे से डिग्री लेना या पदोन्नति की कामना करना एक प्राकृतिक कुंठा के प्रसार का संकेत है।

इस प्रवृत्ति का संशोधन हुए बिना इस घास-फूंसे की सर्जना कदापि नहीं रुक सकती। विश्वविद्यालयीय शिक्षा-क्षेत्र में सेवावृत्ति के लिए डाक्टरेट की उपाधि आवश्यकता सी बन गई है। इससे निम्नस्तरीय शोधकर्म को भी बढ़ावा मिलने लगा है। जो लोग एक पृष्ठ शुद्ध नहीं लिख पाते हैं वे भी डाक्टर बन कर व्याख्याता बन जाते हैं। फिर हर स्तर के शोध-कार्य को बढ़ावा क्यों न मिले।

निम्नस्तरीय शोध-कार्य का कलंक केवल गवेषक के माथे पर ही नहीं लगाया जा सकता वरन् निर्देशक और परीक्षक भी इस दोष से मुक्त नहीं हो सकते। विषय के निर्वाचन प्रबन्ध-निरीक्षण तथा अपनी क्षमिज्ञता के साथ शोध-प्रबंध के विश्वविद्यालय में प्रस्तुतीकरण में निर्देशक का बहुत बड़ा हाथ होता है। यदि ये तीनों काम हो गये तो समझिये कि शोधक अपनी प्रतिभा डाक्टर हो गया।

निर्देशक का काम बहुत दायित्वपूर्ण होता है। वह शोधक की योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न करता है और उसे करना भी चाहिये किन्तु वह उसे किसी भी विषय पर काम करने की योग्यता प्रदान नहीं कर सकता। योग्यता के विकास का भी एक क्रम होता है। उसका प्राकस्मिक विस्फोट नहीं होता और न निर्देशक कोई जादूगर ही होता है जो किसी कुन्जी के प्रयोग से या फूँक मार कर शोधार्थी को एकदम योग्य बना दे। मान लीजिये कोई बंगाल का आदमी जिसने हिन्दी में एम ए परीक्षा पास की है राजस्थानी भाषा और साहित्य पर शोध करना चाहता है, तो निर्देशक को उसकी योग्यता का पता लगाकर तदनुरूप परामर्श देना चाहिये। राजस्थानी का जानकार ही उक्त विषय पर काम करने के योग्य हो सकता है। हर किसी को योग्य नहीं माना जा सकता। योग्यता की जाँच पृष्ठभूमि के आधार पर ही की जा सकती है, वय के आधार पर नहीं। यदि स्वयं आधार की अपेक्षा रखती है।

इसके अतिरिक्त हरेक व्यक्ति शोध कार्य नहीं कर सकता। इसके लिए मन भी तो चाहिये। जो लोग मन से करते हैं उन्हें शोध के मैदान में 'रणछोड़' बनने के लिये नहीं भगना चाहिये। ऐसे लोग कुछ दिन काम करके अपना और निर्देशक का समय नष्ट करके मझधार मार्ग पर साथ छूटते हैं। ऐसे लोगों की परीक्षा लेनी चाहिये। इसके लिए दिल्ली विश्वविद्यालय ने प्री-पी एच डी क्लास की आयोजना से बड़ा योग्य कदम उठाया है। मैं समझता हूँ कि यह कदम अन्य विश्वविद्यालयों के लिए भी अनुकरणीय है। इससे एक लाभ मात्र तो यह होगा कि ऐसे-वैसे छूट जायेंगे और जिनमें परिश्रम करने की क्षमता रुचि एवं योग्यता होगी वही इस मैदान में उतर सकेंगे। राजस्थान विश्वविद्यालय ने तृतीय श्रेणी के अनुसन्धित्सुओं के सम्बन्ध में जो शर्त लगायी है, वह भी उचित ही है। तृतीय श्रेणी में एम ए पास प्रत्येक अनुसंधित्सु शोध करने की क्षमता रखता है ऐसा नहीं मान लेना चाहिये और न यही मान लेना चाहिये कि प्रत्येक थर्ड क्लास एम ए अयोग्य होता है। अतएव यह शर्त उचित ही है कि जो थर्ड क्लास एम ए शोध करना चाहता है वह अपनी रुचि के विषय पर काम करके उसे प्रकाशित करे। योग्यता के प्रमाणित होने पर ऐसे थर्ड क्लास एम ए को भी शोध करने की आज्ञा मिल जानी चाहिए।

प्रथम श्रेणी के सभी लोग शोध करने की योग्यता रखते हैं, ऐसी बात नहीं है। कुछ भाग्य के धनी और कुछ परीक्षा-कुशल लोग भी फर्स्ट क्लास एम ए हो जाते हैं। लेखक ऐसे कई लोगों को जानता है जिन्होंने बाजारू नोट पढ़ कर एम ए में प्रथम श्रेणी प्राप्त करली है। ऐसे लोग प्रश्नों का अनुमान लगाकर उनके उत्तरों को रट डालते हैं। तैयार किये हुए दस-पन्द्रह प्रश्नों में से प्रश्न-पत्र में चार-पाँच का आ जाना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसी प्रथम श्रेणी वाले एम ए योग्य नहीं कहे जा सकते। उनकी योग्यता की परीक्षा भी होनी चाहिये। उनकी अध्यवसायिता एवं पृष्ठभूमि भी परीक्षणीय है। इस सीढ़ी पर निर्देशक को बहुत सतर्क एवं सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

निर्देशक को शोधक के कार्य की जाँच के लिए बहुत लम्बा समय मिलता है। दो वर्ष से कम तो शायद नहीं मिलते ही नहीं है। इस अवधि में वह शोध-कार्य का कच्चा रूप भी देखता है और पक्का रूप भी। यदि उसके निर्देशन एवं रुचि के अनुरूप कार्य नहीं होता है, उसमें शोध का स्तर नहीं दृष्टिगोचर होता है तो निर्देशक को बड़े स्पष्ट शब्दों में कार्य का स्तर बतला देना चाहिये। निर्देशक फिर भी उसे कार्य को स्तर पर लाने की प्रेरणा दे सकता है अन्यथा उसे अभिशंसात्मक प्रमाण पत्र नहीं देना चाहिये। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इम्प्रिमेंट से (निम्नस्तरीय शोध कार्य से) न केवल शोधक की निन्दा होती है अपितु निर्देशक और विश्वविद्यालय की भी। और तो और, परीक्षक भी इस निन्दा से मुक्त नहीं हो पाते।

शोध के क्षेत्र से कूड़े-कर्कट का निवारण करने के लिए परीक्षकों की जिम्मेदारी भी कुछ कम नहीं है। न्यायमूर्ति के आसन पर बैठ कर वे निम्न कार्य की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकते वरन् उन्हें ऐसे कार्य की भर्त्सना करनी चाहिये। ओछे शब्दों में उसकी आलोचना करनी चाहिये। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सभी शोध कार्य निर्दोष होने हैं किन्तु नगण्य शोधो की उपेक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त परीक्षकों म मतभेद भी हो सकता है किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी कि एक बात को एक परीक्षक बुरा बतलाये और दूसरा रत्न। ऐसा अन्तर बौद्धिक नहीं हो सकता। बौद्धिक या वस्तुपरक निर्णय मे इतने बड़े अन्तर के लिए अवकाश कदापि नहीं होना चाहिये। भावात्मक निर्णय ही इतने भिन्न हो सकते है। ऐसे निर्णयो मे ही कूड़े-कर्कट के पास होने की संभावना अधिक बढ़ जाती है, जो एक साहित्यिक विडंबना है। वस्तुपरक निर्णय की कसौटी पर जो शोध-कार्य पूरा न उतरे उसका संशोधन कराना ही उचित है और जिसमें संशोधन की भी आशा ही न हो उसके सबध में अन्तिम निर्णय दे देना अन्याय नहीं है। अतएव परीक्षको का कार्य भी बड़ी सावधानी का है। उनके निर्णय के लिए वस्तु-परक दृष्टिकोण अनिवार्य है। उन्हें अपनी रुचि से प्रेरणा नहीं मिलनी चाहिये। वे साहित्यिक शोध के मार्ग और कार्य का मार्जन करके साहित्य के उत्थान एवं गौरव मे बहुत भारी योग दे सकते है।

साहित्यिक शोध के क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले घास-फूस के निवारण का कुछ दायित्व विश्वविद्यालय उसके अधिकारियो पर भी है। उनको ऐसे नियम बनाने चाहिये कि वे घास-फूस को ऊपर न आने दें। बहुत तक हो सके यह उनके नियमो में ही उपलब्ध आये। उदाहरण के लिये दिल्ली विश्वविद्यालय का पी-एच डी का नियम अथवा बर्ई क्लास एम ए के सबध मे राजस्थान विश्वविद्यालय की प्रकाशित एवं प्रमाणित कार्य की शर्त को प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसे नियमो में योग्यता छन जाती है।

शोधार्थियो के पथ-प्रदर्शन के लिये विश्वविद्यालय को कुछ चुने हुए विषय रखने चाहिये। यदि रुचि हो तो शोधार्थी उनमे से भी किसी विषय को चुन सकता है अन्यथा वह कोई अपना विषय ले सकता है, किन्तु विषय की उपयुक्तता एक कमेटी द्वारा निर्धारित की जानी चाहिये। विश्वविद्यालय की विषय-सूची का संशोधन या नवीनीकरण प्रत्येक वर्ष होना चाहिये।

इस प्रकार साहित्यिक शोध के क्षेत्र मे घास-फूस के उगने की संभावना बहुत कम हो जायेगी और हीन प्रवृत्तियो के प्रतिफलन को प्रोत्साहन न मिलने से सहज परिष्कृति का सम्पूरुत्थान होगा।

शोध के कारण

शोध-कार्य अपने आप मे एक इकाई नहीं है। उसका ढांचा अनेक बौद्धिक एवं वास्तविक उपकरणो से तैयार होता है। जिस प्रकार घट मे मृत्तिका ही

सब कुछ नहीं है। इनमें अन्य कारण भी होते हैं जैसे कुम्भकार, चक्र आदि मूल रूप निमित्त आदि। इसी प्रकार शोध-कार्य के भी अनेक कारण होते हैं। शोधक या अध्येता निमित्त कारण होता है। शेष कारण उपादान या साधन होते हैं जिनमें निर्देशक गण (गुरु तथा सहायक) कार्य-पद्धति और विषय प्रमुख हैं। विश्व विद्यालय के नियम एवं परीक्षक भी शोध-कार्य को प्रभावित करते हैं।

शोधक

शोधक से तात्पर्य हाड़-मांस के बोलने वाले पिंड से नहीं है वरन् उसमें उसका पूर्ण व्यक्तित्व, उसका स्वास्थ्य, योग्यता, बोध, रुचि, परिस्थितियाँ, सुविधाएँ, प्रकृति एवं आचरण सब कुछ निहित है। ये सब मिल कर शोधक के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव शोध-कार्य में बेहद बाधक सिद्ध हुआ है।

१ स्वास्थ्य

स्वास्थ्य शोधक की प्रथम आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है। जहाँ स्वास्थ्य के लाले पड़े रहते हैं वहाँ शोध की गति भी बाधित रहती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि शोध-कार्य श्रम-साध्य होता है। अस्वस्थ शरीर श्रम-भार वहन करने में न तो समर्थ ही होता है और न वहन करना ही चाहिये अन्यथा उसके परिणाम भयंकर होते हैं। शोध-कार्य रुचि या आवश्यकता से प्रेरित होता है। रुचि भी जीवन की एक आवश्यकता की अभिव्यक्ति होती है। साधारणतया शोध-कार्य उद्देश्य-प्रेरित होता है उसका कोई लक्ष्य होता है। वह किसी अभाव की पूर्ति करता है। अनुसंधान का वाहन शरीर है केवल इच्छा या रुचि नहीं है। अस्वस्थ शरीर में इच्छा कुण्ठित है, वह पूर्ण नहीं हो सकती। अतएव स्वास्थ्य शोधक के व्यक्तित्व का बहुत महत्वपूर्ण अंग है।

अनुसंधान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को पहले अपने स्वास्थ्य की ओर देखना चाहिए। अस्वस्थ होने की दशा में शोध-श्रम दैनिक चर्या का ही बाधक नहीं वरन् ऐसा करने से दुष्परिणाम परिवार को भी भोगने पड़ते हैं। कई नवयुवक अपने अविचार पूर्ण दुराग्रह से शोध-कार्य का अनुचित भार लेकर अपने कुटुम्ब के लिए अपना धन गये और अधिक अस्वस्थ होकर कई महीनों तक अस्पताल में पड़े रहे। उन्हें न केवल शोध-कार्य छोड़ना पड़ा वरन् अपना घर और व्यवसाय भी कई महीनों के लिये छोड़ना पड़ा। अतएव स्वास्थ्य शोध-कार्य की प्रमुख उपाधि है।

२ योग्यता

'योग्यता' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं तथा शारीरिक और मानसिक अनेक भेद हो सकते हैं। इसीलिए शारीरिक योग्यता मानसिक योग्यता पढ़ने की योग्यता पढ़ाने की योग्यता बातचीत करने की

योग्यता देने की योग्यता लेने की योग्यता छूने की योग्यता आदि प्रयोगों में इसके अर्थ की विविधता दृष्टिगोचर होती है। शक्ति प्रतिभा आदि शब्द योग्यता के किसी अंश की ही व्याख्या कर पाते हैं। इनसे उसके अस्तित्व की व्याख्या नहीं होती। गवेषणा के क्षेत्र में 'गवेषणा शक्ति' से योग्यता का अर्थ-निर्धारण हो जाता है। पूर्वावगति, साहित्य संस्कार, शोध-तीव्रता पूर्वाग्रह-निरास और मानसिक संतुलन इसके प्रमुख अंग हैं।

क पूर्वावगति

गवेषणा की पीठिका पूर्वावगति से निर्मित होती है। गवेषक को विषय-संबंधी जितनी अवगति हो उतनी ही अच्छी बात है। यहाँ हम शोधकों के दो प्रकार नहीं भुला सकते—एक तो वे जो विश्वविद्यालय की एम ए डिग्री प्राप्त किये हुए हैं और दूसरे वे जो कोई डिग्री नहीं रखते फिर भी शोध-कार्य करते हैं। यद्यपि पूर्वावगति दोनों के लिए अपेक्षित है किन्तु इस ग्रन्थ में केवल उसी शोध की मीमांसा है जो उपाधि के लिए किया जाता है और जिसका कर्ता एम ए० की परीक्षा पास कर चुका है।

यों तो किसी विषय का एम ए फैकल्टी के किसी विषय में डाक्टरेट ले सकता है कोई वैधानिक आपत्ति नहीं है। डा धीरेन्द्र वर्मा ने संस्कृत में एम ए पास करके हिन्दी में डी लिट की उपाधि प्राप्त की थी। इसी प्रकार डा इन्द्रनाथ मदान ने अंग्रेजी की एम ए परीक्षा पास करके हिन्दी में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इससे स्पष्ट है कि कोई वैधानिक आपत्ति न होते हुए भी शोधक के सामने दो प्रश्नों के उत्तर अवश्य रहने चाहिए—(१) क्या वह विषय विशेष में रुचि रखता है? (२) क्या वह विषय के संबंध में ज्ञान रखता है?

'कालिदास के काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' पर शोध करनेवाले से कालिदास के जीवन और काव्य के संबंध में सामान्य ज्ञान की आशा करना अनुचित नहीं है। कोरी पट्टी पर लिखना सीखने का हौसला गवेषक के लिए बहुत महँगा पड़ता है। अर्जित ज्ञान की वृद्धि एवं संशुद्धि ही गवेषणा के मूलाधार हैं। इन्हीं से पूर्वावगति निर्मित होती है। यह हो सकता है कि पूर्वावगति में तथ्य का कोई एक पहलू समक्ष रहा हो। गवेषणा में पूर्वावगति के संबंध में उसका दूसरा पहलू प्रकट हो सकता है अथवा तथ्य के पूर्वावगत दो पहलुओं में से गवेषक एक तीसरे पहलू को प्रस्तुत करके न केवल अपने पाठकों के समक्ष उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है, वरन् अपने कुशल नियोजन से उन्हें दंग भी कर सकता है।

पूर्वावगति डिग्री या उपाधि में ही संनिहित हो ऐसी बात नहीं है। वह श्रम या अध्ययन से भी अर्जित हो सकती है। वह एक प्रकार का ज्ञानार्जन है जिसे संस्कारों से विशेष सहयोग मिलता है।

घ पूर्वाग्रह-निपात

पूर्वाग्रहों का निपात योग्यता की चरम आवश्यकता है। पूर्वाग्रह मौलिकता को पनपने नहीं होने देते। वे पर्यवेक्षण की क्षमता को भी बाधित करते हैं। पूर्वाग्रह किसी विशेष दिशा की ओर ही गवेषक की मनीषा को खींचते हैं, दिशान्तरों में उसका पर्यटन नहीं होने देते। वे रूढ़ मान्यताओं अथवा पूर्व निश्चयों को ही पुरस्कृत करते हैं। इससे शोध-वृत्ति में एकांगिता प्रतिष्ठित होती है। तटस्थता और निष्पक्षता जो शोध-कार्य में अत्यावश्यक हैं पूर्वाग्रह से विगलित होती हैं। इससे तर्क शिथिल होते हैं और शोधवृत्ति सतर्क एवं समुचित निष्कर्षों से वंचित होती है।

ङ मानसिक संतुलन

मानसिक संतुलन गवेषक की योग्यता का अनिवार्य तत्त्व है। यों तो मनुष्य का प्रत्येक कार्य ही मानसिक संतुलन की अपेक्षा रखता है किन्तु शोध-कार्य में उसकी उपेक्षा किसी पद पर वांछित नहीं है। मानसिक संतुलन की दो प्रमुख भूमिकाएं हैं १ संस्करण तथा २ परिशिक्षण। संस्करण से अनिश्चय एवं भ्रान्ति का परिहार होता है तथा परिशिक्षण से अस्थिरता, आवेग एवं निराशा का विनाश होता है। इन दोनों भूमिकाओं के अभाव में गवेषक की धारणाएं अस्पष्ट और निर्णय अप्रौढ़ होते हैं और ठोस ज्ञान की गवेषणा के लिए कष्ट करने के स्थान पर वह भावनाओं में बह जाता है। परिणाम यह होता है कि किसी भी नये विषय पर दूसरों की सम्मति पढ़ या सुन कर वह अपना निर्णय नहीं दे पाता क्योंकि उसके पथ-दर्शन के लिए कोई सिद्धान्त नहीं होते। उस समय उसे केवल रुचि प्रेरित करती है। वह किसी सम्मति के स्वरूप का अपेक्षित विवेचन या विश्लेषण नहीं कर पाता। अपना मत देने के लिए किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए आधार और मार्ग ज्ञान और तर्क चाहिये अन्यथा निराधार मन में ज्ञान की जोत बुझे बिना नहीं रह सकती।

मानसिक परिशिक्षण श्रम और धृति का अभ्यास है। यह मन की एक ऐसी सहज अवस्था है जिसमें नवीन मान्यताओं को अर्जित ज्ञान के संदर्भ में उनसे समन्वित करके देखना होता है। इस अभ्यास में नवीन स्वीकृति तथा विचार-केन्द्र के रूप में कुछ सिद्धान्तों का प्रयोग निहित रहता है जिनसे चारों ओर मनोजगत के ज्ञान का विकास एवं प्रसारण होता है। यही आलोचन-क्षमता की क्रीड़ा-भूमि है। इसी की क्रोड़ में प्रौढ़ निर्णय एवं साकार निष्कर्ष जन्म लेते हैं।

३ रुचि

रुचि ग्रन्थ को पूर्ण करने का प्रमुख साधन है। रुचि और श्रम एक दूसरे के सहायक हैं और मनोयोग के प्रमुख वाहन हैं। रुचि से संलग्न सफल होता है और बहुधा

संकल्प रुचि का निर्माण भी करता है। रुचि के प्राय: दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं—१—सहज या निरुपाधिक रुचि तथा २—अनुसृष्ट या सोपाधिक रुचि। उदाहरण के लिए एक ऐसे आदमी को ले सकते हैं जो करेला पसन्द नहीं करता किन्तु रक्तचाप की अचूक औषधि के रूप में प्रतिष्ठित होने पर करेले के प्रति उसकी जिस रुचि का उद्गम होता है, वह अनुसृष्ट रुचि होती है। संकल्प के साथ रुचि की सृष्टि के ऐसे और भी अनेक उदाहरण हो सकते हैं।

सहज रुचि जीवन-धारा का निरन्तर प्रवाह है परन्तु अनुसृष्ट रुचि जीवन-धारा की लहर है। सहज रुचि के पीछे कारण विशेष नहीं होता परन्तु अनुसृष्ट रुचि सकारण होती है। संकल्प और रुचि दोनों अभीप्सित की सिद्धि के प्रति सहायक होते हैं। संकल्प से प्रक्रिया में दृढ़ता आती है और रुचि से सुखदता की प्रतीति होती है।

(अपने कार्य के प्रति शोधक को संकल्पवान् तो होना ही चाहिये रुचिवान् भी होना चाहिये। रुचि के न होने पर भी संकल्प अपने कर्ता की प्रेरणा बन जाता है। शोधकों में दोनों रुचि-भेद दृष्टिगत होते हैं—सहज रुचि वाले शोधक भी देखे गये हैं और अनुसृष्ट रुचिवाले भी। सहज रुचि वाले लोग अपने कार्य में दुष्करता या दुर्भेद्यता का अनुभव नहीं करते। उनको अपना कार्य सुखद प्रतीत होता है, भार नहीं किन्तु दूसरे शोधकों को वैसी सुखदता का अनुभव नहीं होता। रुचि का सामान्य सुख श्रम की प्रतीति न होने देता है। सोपाधिक रुचि के होने पर भी शोध-श्रम का प्रसाद हो जाता है, किन्तु सदैव नहीं।

४ परिस्थितियाँ

किसी लक्ष्य के मार्ग में आने वाली सुविधा व असुविधा के वातावरण को परिस्थिति कह सकते हैं। ऐसे बहुत कम मनीषी मिलेंगे जो केवल अनुकूल परिस्थितियों में काम करते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में आर्थिक एवं वैज्ञानिक प्रमुख हैं। समृद्ध पुस्तकालय का उपलब्ध भी एक बड़ी सुविधा है। ये तीनों सुविधाएं बहुत थोड़े भारतीय शोधार्थियों को मिल पाती हैं, अन्यथा शोधक को उलझाने के लिए एक-न-एक प्रतिकूल परिस्थिति प्राय: आ ही जाती है जो उसे उबारकर विशेष क्षमता वाले ही देती हो किन्तु उसकी गति को बाधित अवश्य करती है। प्रतिकूल वातावरण में मानसिक दृढ़ता और धैर्य की नींव पर आघात होने से अध्ययन की प्रगति निर्मम और निष्कर्ष की भूमिका में बाधा पड़ती है। यह बहुधा असम्भव है कि असुविधाओं से प्रभावित मानव स्वस्थ बना रहे। हाँ यह ठीक है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना जिस प्रकार करता है उससे उसका मूल्य व्यक्त हो जाता है और वह मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रदर्शित कर देता है। किसी के व्यक्तित्व और कृतित्व का निर्धारण परिस्थितियों की भूमिका पर अधिक सरलता से हो जाता है। अतएव परिस्थितियाँ

शोधक के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है। शोध कार्य के समय और स्तर की बहुत कुछ जिम्मेदारी परिस्थितियों पर भी होती है। कुछ लोग योग्यता बोध आदि से संबन्धित दोषों को परिस्थितियों के माथ पर ही मँढ़ते हैं, जो प्रायः उचित नहीं होता।

५. आचरण

आचरण बहुत व्यापक वस्तु है। इसका प्रारम्भ मानस से होता है। इसी कारण पुराणों में मानस तप मानस पाप आदि पदों का विनिवेश मिलता है। तुलसीदास के मानस में 'मानस रोग' का वर्णन भी आचरण की भूमिका का संकेतक है। सामान्यतया आचरण का व्यवहार-पक्ष ही लोक-महत्व का होता है। शिष्टाचार और अशिष्टाचार के सम्बन्ध से इसके दो रूप प्रकट होते हैं। अशिष्टाचार का कारण चाहे कुछ भी हो वह किसी भी धरातल पर शोभन एवं हितकर नहीं होता। शिष्टाचार अपनी तात्कालिक भूमिका पर चाहे लाभप्रद न हो परन्तु शोभन होने के साथ-साथ वह कल्याणकर भी होता है। सदाचार की पीठिका तो बड़ी गौरवमयी है, उसकी तो बात ही क्या है। शिष्टाचार का प्रदर्शन भी लोकोपादेय है।

अशिष्टाचार जिन बाधाओं को आमन्त्रित करता है वे शिष्टाचार के क्षेत्र में कभी फटक भी नहीं सकतीं। ऐसी बाधाओं से बचने के लिए शोधक के लिए शिष्टाचार की बड़ी आवश्यकता है। पुस्तकालय में पढ़ते समय मित्रों से बात करते समय विद्वानों से विचार-विमर्श करते समय और निर्देशक के समक्ष अपने तर्क प्रस्तुत करते समय आचरण की शिष्टता को कदापि न भुला देना चाहिये। विपक्षी दो कोटियों के व्यक्तियों के साथ आचरण में तो विनय की भूमिका भी अपेक्षित है। इससे उसकी उदारता अधिक स्फुट होती है। निर्देशक अपने विनयी एवं शिष्टाचारी अनुसन्धाता के सामने हृदय और मस्तिष्क के कपाट खोल देता है और वह उनमें उसके बोध के प्रवेश के हेतु पुष्कल अवसर प्रदान करने के लिए उन्मुक्त रहता है। विनय और शिष्टाचार के अभाव में शोधक कभी-कभी निर्देशक की सहृदयता का उपलाभ प्राप्त नहीं कर सकता। इससे उसे अध्यवसाय्य की प्राप्ति नहीं हो पाती।

आचरण संतुलित होना चाहिये। असंतुलित आचरण में दंभ दर्प पाखंड आदि व्यक्त हो ही जाते हैं जिनमें निर्देशक आदि हितैषियों की उपादेयता आहत हुए बिना नहीं रहती। कभी-कभी निर्देशक और गवेषक के बीच अनियन्त्रित आचरण से व्यावहारिक शुद्धता उत्पीड़ित हो जाती है और निर्देशक शोधक के सामने अपनी मानसिक सम्पत्ति को नहीं खोल पाता है। निर्देशक और गवेषक की आपसी घुलावट निष्कपट और निश्छल आचरण पर अधिक निर्भर है। इन दोनों के बीच में दुराव के लिए कोई स्थान नहीं बनता है। यदि वह बनता है तो केवल आचरण की दुर्बलता के कारण बनता

है। समुचित आचरण के निर्वाह में किसी एक पक्ष का ही उत्तरदायित्व नहीं है, किन्तु अन्वेषक को इस सम्बन्ध में विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। सम्यक्चार एवं कर्तव्यपरायण निर्देशक भी अन्वेषक के किसी विशेष व्यवहार के सम्बन्ध में सहसा निर्णय नहीं ले लेता है।

६. तत्परता

अनुसंधान के लिए वर्षों का श्रम चाहिये। इसमें योग्यता की अपेक्षा श्रमशीलता कहीं अधिक आवश्यक है। परिश्रम के लिए स्वास्थ्य और शारीरिक सन्तुलन की आवश्यकता होती है। अस्वस्थ शोधक अपने कार्य का सम्पादन सफलता पूर्वक नहीं कर पाता और न वह शोधक ही सफलता प्राप्त कर सकता है जिसे श्रम करने की आदत नहीं है। पहले तो सामग्री-संकलन ही बड़े श्रम की अपेक्षा रखता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध-लेखन भी कुछ कम श्रमसाध्य नहीं है, क्योंकि लेखन प्रक्रिया एक बार में ही समाप्त नहीं हो जाती कई-कई बार लिखना पड़ता है। मुझे स्वयं एक शोधार्थी से एक अध्याय अठारह बार लिखवाना पड़ा था। इस श्रम से शोधक ऊब सा जाता है और उसका उत्साह शिथिल पड़ जाता है। उत्साह-विसर्जन शोध के लिए एक मारक दोष है। कभी-कभी कुछ बड़ी-बड़ी मुश्किलें पर जो शोधक उत्साह छोड़ देते हैं वे तत्परता से वंचित होते हैं। तत्परता एक ऐसा गुण है, श्रमशीलता और उत्साह जिसके प्रमुख अंग हैं। वैसे तत्परता भी मनुष्य के आचरण का ही अंग है, किन्तु आचरण के अन्य अंगों की अपेक्षा शोधार्थी के लिए यह बहुत आवश्यक है, इसलिए इसको अलग वर्णित किया गया है।

शोधक को सुविधाएं मिलें या न मिलें किन्तु योग्यता रुचि आचरण और तत्परता से सुसज्जित अन्वेषक शोध के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है। वाग्मिता पटुता व्यावहारिकता निश्छलता निर्भयता तथा विनम्रता मानसिक संस्कार और परिस्थितियों को प्रभावित करके उसकी शोध-यात्रा को बड़ी सरल बना देती है।

निर्देशक

शोध-कार्य के कारणों में निर्देशक का स्थान बहुत ऊँचा है। यह ठीक है कि शोध का वाहन शोधक ही होता है किन्तु कार्यरत कठिनाइयों को सुलझाकर कार्य को सुव्यवस्थित बनाने वाला तो निर्देशक ही होता है। विषय-चयन एवं कार्य-सम्पादन में निर्देशक की प्रेरणा बड़ी मूल्यवान होती है।

निर्देशक का कार्य मार्ग बताना है। मार्ग की दुरूहता-दुर्गमताओं से शोधक को अवगत कराना उसके आलस्य एवं शैथिल्य का परिहरण करना तथा कार्य-प्रगति का निरीक्षण करना निर्देशक का परम कर्तव्य है। इससे शोधक की अतिरिक्त क्षमता का परिचय मिल सकता है। शोधक जब मानसिक दुर्बलताओं से ग्रस्त होता है, तब

उसका मन अस्वस्थ एवं रुग्ण होता है तब निर्देशक पौष्टिक उपचारों से उसे स्वास्थ्य एवं धैर्य प्रदान करता है। सच तो यह है कि निर्देशक का कार्य बहुत कठिन है। उसे न केवल निर्देशन (शोध-विषयक परामर्श) ही देना होता है, अपितु शोध-काल में शोधक के सामने प्रस्तुत होने वाली अनेक समस्याओं का हल भी खोजना पड़ता है। उसका काम शोधक को समय-समय पर सँभालना भी है। इससे शोधक को विलक्षण शक्ति मिलती है।

क्षमता

इसमें सन्देह नहीं कि निर्देशक एक योग्य व्यक्ति होता है। योग्यता के कुछ मापदण्डों के अनुरूप ही विश्वविद्यालय किसी व्यक्ति को निर्देशक नियुक्त करता है, किन्तु एक ही निर्देशक सभी विषयों के लिए योग्य नहीं हो सकता। बहुत थोड़े से निर्देशक ही विविध विषयों के सम्बन्ध में अपना निर्देशन दे सकते हैं। विश्वविद्यालय के मापदण्ड से तो कितने ही व्यक्ति निर्देशक नियुक्त हो जाते हैं और वे भाषा और साहित्य के किसी भी विषय पर निर्देशन देने के लिए उपयुक्त समझे जाते हैं, किन्तु वे सब विषयों में सक्षम नहीं होते। विषय-विशेष पर उनकी विशेष क्षमता को स्वीकार किया जा सकता है, प्रत्येक विषय पर नहीं। यदि वे प्रत्येक विषय पर निर्देशन देने के लिए उद्यत हो जाते हैं तो यह उचित नहीं है। वे निर्देशन के सम्बन्ध में न्याय नहीं कर सकते।

निर्देशन-क्षमता किसी डिग्री या उपाधि से ही सम्बन्धित नहीं की जानी चाहिये वरन् अध्ययन अनुभव एवं कृति के आधार पर भी उसको आँकना चाहिये। उदाहरण के लिए सन्त-साहित्य के पण्डित श्री परशुराम चतुर्वेदी को ले सकते हैं। उपाधियों की तुला पर वे निर्देशक नहीं उतर सकते किन्तु अध्ययन एवं कृति के बल पर वे सं- साहित्य से सम्बन्धित किसी भी विषय पर निर्देशन देने के लिए उपयुक्त हैं। इस योग्यता को कहते हैं निर्देशक की क्षमता। केवल विषय-ज्ञान से निर्देशक की क्षमता नहीं आँकी जा सकती बहुत सी विषयेतर बातें भी उसकी क्षमता का अंग होती हैं। शोधक की परि-स्थितियाँ एवं प्रवृत्तियों का समीचीन ज्ञान तथा उनके प्रति निर्देशक की सहानुभूति भी तो उसकी क्षमता है अन्यथा दोनों के बीच में सुरुचि की स्थिति नहीं रह सकती।

रुचि और अवकाश

रुचि और अवकाश भी निर्देशक की क्षमता या योग्यता के अंग हैं। कभी-कभी निर्देशक को ऐसे विषय पर निर्देशन देने के लिए विवश किया जाता है जिसमें उसकी रुचि नहीं होती। रुचि के अभाव में बोध के प्रेरित न होने से परिणाम वही होता है जिसकी मात्र कल्पना की जा सकती है। कार्य-सम्पन्न हो जाने पर भी उसमें सुसम्पन्नता का अभाव तो कहीं न कहीं अवश्य खटकता है और उसका कारण होता है रुचि का अभाव—निर्देशक की विवशता।

कुछ निर्देशकों के पास समय का अभाव रहता है। वे इतने बड़े आदमी होते हैं कि उनसे समय लेने के लिए अन्वेषक तरसता है। उनसे मिलकर विषय पर खुल कर बात कर लेना प्रायः सम्भव नहीं होता। दो चार महीने में भी उनसे बात करने का अवसर मिल जाना अन्वेषक के लिए बड़े सौभाग्य की बात है। सामान्यतया उनसे बहुत कुछ प्राप्त कर लेना बहुत दुष्कर है। बहुत कुछ पाने के लिए उनसे बहुत बार मिलना चाहिये जो प्रायः सम्भव नहीं है और जब कभी वे कुछ देते हैं तो इतना ठोस पदार्थ दे देते हैं कि उसको हजम करना कभी–कभी अन्वेषक की बुद्धि के लिए कठिन हो जाता है। अन्वेषक के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वह अपने निर्देशक से अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में विचार–विमर्श भी न कर सके। कितना ही योग्य अन्वेषक हो किसी न किसी स्तर पर उसे निर्देशन की आवश्यकता तो प्रतीत होती ही है। इसकी पूर्ति न होने पर उसे बड़ा बौद्धिक आघात पहुँचता है। कुछ कुशल अन्वेषक अपनी गुत्थी को येन केन प्रकारेण सुलझा लेते हैं, किन्तु सभी तो ऐसा नहीं कर सकते। जिनमें इतनी क्षमता नहीं होती वे अपने भाग्य व निर्देशक को कोसते हैं।

असफलताजन्य दोष को केवल निर्देशक के माथे ही नहीं मँढना चाहिये। वास्तविक दोष उन अनुसन्धित्सुओं का होता है जो उनके गौरव से आकृष्ट होकर उनके पीछे पड़ते हैं, निर्देशन के लिए उन्हें विवश करते-कराते हैं। आखिर वे भी इसी समाज के प्राणी हैं। उन्हें इस समाज में रहना है। उनको अपने इष्ट मित्रों से सम्पर्क रखना है। इनको सुरक्षित रखने के लिए वे विवश होकर निर्देशन स्वीकार कर लेते हैं। वास्तव में यह उनकी दुर्बलता है जो अनेक परिस्थितियों में अनिवार्य है।

जिनके पास अवकाश नहीं है, ऐसे निर्देशकों की क्षमता का समुचित उपयोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक तो वे अपने कुछ कम भार से व्यस्त रहते हैं, दूसरे शोधार्थी को भी उनके अवकाश की जोहनी–ताकनी रहती है। सुना जाता है कि एक-दो निर्देशक तो पचासियों अनुसन्धाताओं को निर्देशन दे रहे हैं। यहाँ औचित्य के ऊपर ख्याल न करके मानवता और विवशता की भूमिका पर ही देखना चाहिये। आखिर मनुष्य तो मनुष्य ही है। उसकी कुछ स्वाभाविक एवं सामाजिक परिसीमायें होती हैं। इनका मूल्य आँकते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक निर्देशक द्वारा निर्देश्य शोध–छात्रों की संख्या विश्वविद्यालय द्वारा अवश्य ही नियत होनी चाहिये अन्यथा निर्देशक के अवकाश का प्रश्न और भी जटिल हो सकता है।

सुविधा तथा नियम

निर्देशक एक महत्त्वपूर्ण कार्य-कर्ता है। उसको अनेक सुविधाएं मिलनी चाहिये। इन सुविधाओं की जिम्मेदारी संस्थाओं पर न छोड़ कर विश्वविद्यालय को लेनी चाहिये। सरकारी या गैर सरकारी शिक्षण-संस्थाएँ अपने अध्यापक के श्रम का मूल्य

आँकती है। वे उसके कार्य के स्तर और गुण की उतनी चिन्ता नहीं करती। कुछ शिक्षण संस्थाएं तो अपने अध्यापक का एक विद्वान् का मूल्य व्यापारिक दृष्टि से आँकती हैं जिसमे एक विद्वान् निर्देशक की सुविधा प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। सरकारी संस्थाओं में भी विद्वान् की उपयोगिता उपेक्षित रहती है। उच्चस्तरीय विद्वान् की सुविधा की चिन्ता वहाँ भी नहीं की जाती। यह भारतीय विद्वत् का दुर्भाग्य या हमारी शिक्षा-पद्धति का दोष है। पाश्चात्य देशो मे सुना है विद्वान् निर्देशक एक विशेष दृष्टि से समादृत होता है जिसमे उसकी सुविधाएं सुरक्षित रहती हैं और उसका मानस पुरस्कार कार्य के प्रति उन्मुक्त प्रेरणा प्राप्त करता है। विद्वान् निर्देशको की सुविधाओं की रक्षा विश्वविद्यालयों का सारस्वतिक कर्तव्य है जो परमादरणीय एवं पावन है। कुछ विश्वविद्यालय अपने निर्देशकों को बड़ी सुविधाएं प्रदान करते हैं। न देने वालों को इनके नियम अनुकरणीय हैं।

विद्वान् से योग्यता के अनुरूप ही काम लेना चाहिये अन्यथा योग्यता दुरुपयुक्त होती है। निर्देशक को कार्य देते समय उसका स्तर एवं रुचि दोनों को ध्यान मे रखना उचित है। हराकी घोड़ा ऐराकी का काम भी कर सकता है। इससे घोड़े की योग्यता या मौलिक प्रतिष्ठा का ह्रास नहीं होता, परन्तु जानने वाले के मौलिक विचारों का परिचय अवश्य मिल जाता है।

अनुभवी निर्देशक पढ़ाये बिना नहीं रह सकता किन्तु उससे पढ़ाने के काम की अपेक्षा निर्देशन का काम ही अधिक लेना चाहिये क्योंकि निर्देशन के क्षेत्र मे उसकी उपयोगिता विशेष रूप से आदरणीय है।

विश्वविद्यालय के नियमों मे निर्देशक की सुविधाओं का विशेष स्थान होना चाहिये। विश्वविद्यालय के नियम सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी संस्थाओं के लिए अनिवार्य होने चाहिये। इससे शोध-कार्य और उसके स्तर को बड़ी प्रेरणा मिल सकती है। शोध-संबन्धी अनेक कैम्पो एवं सेमिनारो मे भाग लेने के लिए निर्देशको को समुचित प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

शोध की कड़ी मूलतः ग्रन्थो से निर्मित होती है। किसी विश्वविद्यालय या निर्देशक की सम्पन्नता उसके भवन-सौन्दर्य से नहीं आँकी जा सकती। इसकी प्रमुख निधि पुस्तकालय है। आज पुस्तकालयो मे (मेरा अभिप्राय शोध-स्तरीय पुस्तकालयो से है) उपन्यासों और कहानियों को विशेष प्रवेश मिल रहा है, उतना अन्य विधाओं को नहीं। अपने क्षेत्र मे इनकी भी आवश्यकता है, किन्तु अन्य विधाओ के स्थान पर नहीं।

आधुनिक की अपेक्षा प्राचीन ग्रन्थों का संकलन एवं संचयन किसी भी ग्रन्थालय के गौरव की बात है, किन्तु हस्तलिखित ग्रन्थों एवं प्रतिलिपिकृत शिलालेखों या ताम्रपत्रों का संचयन और भी अधिक गौरव की बात है। ऐसे ग्रन्थ पत्र या लेख ऐतिहासिक या वास्तविक दृष्टि से ही नहीं वरन् भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी बड़े महत्त्व के होते

कि वे ज्ञानार्जन करते हुए नहीं जान पाये कि वे ज्ञान का केवल अल्पमात्र ही जान पाये। अतएव अज्ञता-गोपन के लिए किसी क्रिया विशेष से प्रेरणा नहीं होनी चाहिये। यह शिक्षकमात्र का अवगुण है। निर्देशक के सामने तो गोपन के लिए अधिक अवसर भी नहीं है क्योंकि उसके साथ काम करने वाला गवेषक एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने विषय के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ने और समझने का प्रयत्न करता है। अनेक विद्वानों के विचारों और मतों की छान-बीन वह बड़े ध्यान से करता है। अतएव उसके सामने अपनी अज्ञता को छिपाना निर्देशक के लिए सर्वत्र सम्भव नहीं है। यह सम्भव है कि गवेषक की अज्ञता और निर्देशक का कौशल निर्देशक के गोपन-कार्य में कभी सहायक हो जाये किन्तु इससे गवेषक बहक सकता है और उस पर निर्देशक का झूठा सिक्का भी जम सकता है। सर्वत्र न तो गवेषक ही बहक सकता है और न निर्देशक का झूठा सिक्का ही जमा रह सकता है। असत्य की कलई खुले बिना नहीं रह सकती। फिर निर्देशक को इस अवगुण-से होने वाले अपमान का बोझ भोगना पड़ता है, जो उसके लिए शोभन नहीं होता। इस का भयंकर फल कभी-कभी सीधे-सादे गवेषक को भी भोगना पड़ता है। निर्देशक की दुर्बलता से, उसके बहकाने से गवेषक का कार्य विकृत एवं निर्बल हो जाता है और उसका परिणाम क्या होना चाहिए इसे निर्देशक एवं गवेषक दोनों समझ सकते हैं। दोनों का श्रम व्यर्थ और सम्मान विगलित हुआ है।

इसलिए जो बात निर्देशक न जानता हो उसके सम्बन्ध में गवेषक को वह स्पष्टतया कह दे- "मैं नहीं जानता हूँ।" इस उक्ति का बड़ा लाभ श्रम और सम्मान की रक्षा है। ऐसे निर्देशक की प्रतिष्ठा गवेषक के मन में बहुत बढ़ जाती है और उसका यह गुण दूसरे लोगों को भी प्रभावित करता है। हाँ सर्वज्ञता की ठेकेदारी के दावे से वह अपने 'अहं' की जो अन्यथा क्षणिक तुष्टि कर सकता है, उसे वह नहीं करता है। स्पष्टवादी सच्चे निर्देशक की तुष्टि एक शीलजन्य तुष्टि होती है, जो कर्तव्य-भावना से अनुप्राणित होती है।

निष्पक्षता

(निर्देशक के साथ अनेक गवेषक और निर्देशन के लिए अनेक प्रश्न रहते हैं। उनमें से उसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। पक्षपात का प्रभाव कुछ गवेषकों और उनकी कृतियों पर बहुत गहरा पड़ सकता है। गवेषक के प्रति व्यावहारिक पक्षपात की ही संभावना रहती है। भावनात्मक पक्षपात का निवारण बड़े संयम एवं अभ्यास का फल होता है। यह एक समस्या है, किन्तु व्यावहारिक पक्षपात का निवारण दुष्कर नहीं है। इससे गवेषक के मन में कटुता का प्रादुर्भाव होने से अपमानानुभव की स्थिति बनती है। मुझे ज्ञात है कि विश्व-विद्यालय के एक निर्देशक ने अपने ही छात्रों में से एक द्वितीय श्रेणी वाले को छात्रवृत्ति दिलाने का प्रयत्न किया (और दिला भी दी) तथा प्रथम श्रेणी वाले को जिसकी आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत प्रतिकूल थीं यह कह कर इन्कार किया कि आप अपने साथी से ईर्ष्या—

करते है। उनको सतोष से काम लेना चाहिये। ऐसे व्यवहार से अनुसंधाता का सन्तुलन और निर्देशक का आदर घटता है। शिक्षित समाज मे ऐसे आचरण की आलोचना होती है। इससे निर्देशक के मन की शान्ति भी बिगडती है। अतएव निर्देशक के आचरण मे व्यावहारिक पक्षपात का सन्निवेश अनुचित है।

मत-विषयक पक्षपात अनुसंधान कृति को दूषित बनाये बिना नही रह सकता। किसी मत के सबध में निर्देशक को अपनी भावनाओ से काम नही लेना चाहिये। जिस मत से निर्देशक की भावना या रुचि का सबध बन जाता है, उसके सबध मे वह निष्पक्ष एव सही निष्कर्ष प्रस्तुत नही कर सकता। मत विशेष से भावना या रुचि के सबधित हो जाने पर इतर मतो के प्रति भी अन्याय होने की सभावना रहती है।

कभी-कभी कुछ व्यक्तियो के प्रति अरुचि होने पर उनके मतो से भी अरुचि हो जाती है। इससे अनुसंधानिक पावनता का ह्रास, निर्बल तर्कों का प्रचार एवं भ्रान्तियों का प्रतिपादन होता है। रज को रत्न एव फूलो को धूली कहने से ही माल के सही मूल्य को धोखा जा सकता है। जिन लोगो के प्रति हमारी रुचि नही है उनके तर्कों को केवल अरुचि के आधार से खण्डित करना पक्षपातियो का काम होता है। सच्चा विद्वान् कर्तव्यनिष्ठ निर्देशक तर्कों को निष्पक्ष होकर परखता है, चाहे वे किसी शत्रु के ही क्यो न हो। तर्कों की परीक्षा करते समय उन्हें निष्कर्षों के लिए तोलते समय किसी नाम की चिन्ता नही करनी चाहिये। किसी भी मत का वस्तु-परक मूल्यांकन होना चाहिये नाम-परक नही। इसी को सैद्धान्तिक निष्पक्षता भी कह सकते है।

कर्तव्यपरायणता

निर्देशक मे कभी मानवीय दुर्बलताए हो सकती है किन्तु उसे कुछ दुर्बलताओ से ऊपर उठने का प्रयत्न तो अवश्य ही करना चाहिये और वे है अहंकार, लोभ एवं अत्याचार। इनसे कर्तव्यपरायणता बाधित होती है। कर्तव्य-मार्ग मे आने वाली बाधाओं के कारण तो और भी बहुत से हो सकते है किन्तु ये तीन तो कर्तव्य के प्रत्यक्ष शत्रु है। अहंकार विद्वान् की सबसे बडी दुर्बलता है। इससे ज्ञान के विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। अहंकार की स्थिति मे मन मे निश्चलता आती है जिससे बुद्धि की ऊर्ध्वगामिता रुकती है। अहंकार नम्रता एवं विनय को भी पीडित करता है जिससे गुणग्राहकता समाप्त होती है जो विद्वान् के लिए सबसे बडा अभिशाप है। अतः निर्देशन-कार्य का निर्वाह उस दान के समान है जिसे दानी दोनों हाथों से देता हुआ भी भार समझता है। इससे अहंकार का दमन एव निराकरण दोनों संभव होते है। कर्तव्यपरायणता निरहंकारिता की उत्पत्ति होती है। निर्देशक के व्यक्तित्व मे इसका अभाव नही होना चाहिये।

लोभ कर्तव्यपरायणता का दूसरा भीषण शत्रु है। यह अहंकार का सिन्धु है जिसकी उत्पत्ति स्वार्थ के मार्ग मे होती है। वैसे तो स्वार्थ भी परमार्थ का प्रेरक होता है,

किन्तु अपनी उच्च शक्ति से। निम्न या अधम स्वार्थ केवल लोभ को जन्म देता है, जिससे मानव की उच्च मनोवृत्तियाँ प्रभावित होती हैं। निर्देशक एक ऊँचे स्तर का विद्वान् होता है। वह कोई भूखा-नंगा मनुष्य नहीं होता है। कई उदाहरणों में, भले ही उसे आर्थिक परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ता हो किन्तु उसे अधम स्वार्थ की ओर कभी नहीं झुकना चाहिये। लोभ मोह को जन्म देकर बुद्धि को नष्ट करता है। बुद्धि-विनाश सब विनाशों का मूल है।

लोभ का तात्पर्य यह नहीं है कि निर्देशक अपने मनोपक से कुछ इच्छा रखता है। उसका तात्पर्य यह है कि वह स्वार्थ की वेदिका पर अपनी विद्या की आहुति नहीं देता। यदि वह अपनी विद्या से अपने स्वार्थ को खरीदता है तो यह विद्या की विडम्बना है। विद्वान् व्यापारी नहीं होता और न उसे होना ही चाहिये। यह ठीक है कि वर्तमान पर्यन्त अवस्था में विद्वान् ने विद्या को अपनी आजीविका का साधन भी बना लिया है किन्तु विद्या का गौरव विद्वान् को लखपती बनाने में नहीं है विदरत्न या दान करने में है। विद्या का सदुपयोग विमुक्ति के निमित्त होना चाहिये। लोभ के कुत्सित प्रभाव से विद्या निष्कासित होती है। लोभ विद्वान् को बाँधता है। इससे विद्या का लक्ष्य भ्रष्ट होता है। विद्वान् के लिये नहीं बड़े गौरव की बात है कि विद्या ने उसे मुक्त किया है, जिसे भारतीय बड़े पुण्यों का फल मानते हैं। बुद्धि का मैं एक गुरु भी अपनी बुद्धि को स्वतन्त्रविनी बनाये यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी।

आज गुरु का सम्मान इसलिए नहीं है कि वह गुरुत्व से च्युत हो गया है, लोभादि के कारण वह अपने पद से अपने कर्तव्य से स्खलित हो गया है। ट्यूशनों और पाठ्य-पुस्तकों से धन-संचित किया जा सकता है, किन्तु विद्वान् के लिए यह कार्य सम्माननीय नहीं है। इसमें व्यवसाय की दुर्गन्ध ही नहीं आती वरन् विद्वान् की उच्च वृत्तियाँ पतन को प्राप्त होती हैं। विद्वान् अनाभाव से पीड़ित रहता है इसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति जानता है और वह यह भी जानता है कि इस समाज में उसका इतना भी महत्त्व नहीं है, जितना एक पुलिस के सिपाही का। यह दोष हमारे समाज का है जिसका धार्मिक कारण विद्वान् स्वयं भी है। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' की यह उक्ति आज लागू नहीं होती। जब कभी रही होगी तब होगी।

समाज के भवन का एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ विद्वान् है। वह समाज का मस्तिष्क है। समाज को चाहिये कि वह अपने इस धर्म को सुरक्षित रखे अन्यथा उसकी अपनी सुरक्षा करने में होगी। इसके अतिरिक्त विद्वान् को भी एक पूज्य व्यक्ति बनना होगी और वह होगी उसकी घोर तपस्या जो समाज के मन को विस्मित तथा हृदय को प्रवित कर देगी। वह कोई पंचाग्नि तप नहीं होगा। वह होगा उसकी कर्तव्यपरायणता का तप जिसमें उसकी प्रेरणा मुखर होगी और उसका अस्तित्व अनिवार्य होगा। वह अपने लिए नहीं देखेगा समाज के लिए देखेगा। उस द्रष्टा और मनस्वी की प्रत्येक बात आदरणीय

होगी। तब समाज देखेगा उसके लिए, उसके बाल-बच्चों के लिए और तब उसकी पावन कर्तव्य-भावना आनन्द के फलों से फलेगी। विद्यार्थी को अपनी राह लेने दीजिये निर्लिप्त होकर कर्तव्य-मार्ग पर चलने दीजिये। उसके लिए कामना कीजिये प्रयत्न कीजिये कि वह कर्तव्य का निर्वाह करे। उसको मार्ग-भ्रष्ट करने का साधन मत बनिये। किसी बन्धन में न फँसाइये और फिर प्रतीक्षा कीजिये अपने स्वप्न के साकार होने की। आपका स्वप्न अवश्य साकार होगा। निर्देशक का अभाव कोई कमि-कमजोरी न रह जाये। इस तपस्या की परम्परा यहीं से प्रारम्भ होने दी जाये। उसका तपोमय आचरण अनुकरणीय होगा।

निरुपकारिता एवं निर्लोभिता व्यक्ति को अनपकारिता के पथ पर सहज ही में ले चलती है। उपकार मानव का सर्वप्रथम गुण है, किन्तु अनपकारिता भी एक गुण है। उपकार करना कठिन है, अपकार करना सरल है। अनपकारिता इन दोनों के बीच का आचरण है। यह भी एक तपस्या है। निर्देशक के वातावरण में अपकार करने का बहुत अवकाश है, यद्यपि वह सब-साध्य है, किन्तु उसके सामने एक क्षेत्र ऐसा भी है जिसमें वह अपकार भी कर सकता है। उसे अपकार से बचना चाहिये। अपकार एक ऐसा घातक बन्धन है जिसमें किसी दूसरे का रक्त गिर सकता है। अपकारी दूसरे का अपकार करने से पहले अपना अपकार कर लेता है। वह अपनी मानसिक शान्ति को खोता है। निर्देशक के लिए मानसिक शान्ति के मूल्य पर कोई कार्य वाञ्छनीय नहीं होना चाहिये अन्यथा उसकी बुद्धि की पैठ अपकार के क्षेत्र में होने लगती है। इससे मानसिक क्लेश एवं व्यथा बढ़ती है और मनोयोग का कार्य व्याहत होता है। अनपकारिता प्रतिशोध की भावना से परहेज होती है। प्रतिशोध की भावना वह ज्वाला है जो अपने कारण के रहते हुए शान्त नहीं होती। अपकारी और अपकृत दोनों के बीच में 'प्रतिशोध' दाह उत्पन्न करता है। इसके विपरीत दया और क्षमा मरहम है। ये देने वालों को भी सुखद होते हैं और पाने वालों को भी। अतएव प्रतिशोध के स्थान पर निर्देशक को दया और क्षमा से ही काम लेना चाहिये। प्रतिशोध क्रोध की ज्वाला को प्रज्वलित करता है, जो पाप-स्वरूप है। दया और क्षमा धर्म या कर्तव्य के प्रमुख अंग हैं।

निर्देशक उसी समाज का प्राणी होता है, जिसमें राग-द्वेष भरे पड़े हैं, किन्तु वह बुद्धि की ऊँची सीढ़ी पर पहुँचा हुआ व्यक्ति होता है। इसलिए उसे विवेक का परित्याग नहीं कर देना चाहिये। उसकी ओर से किसी का बुरा करने के लिए कोई कदम नहीं उठना चाहिये। मतभेद के बाद भी उसे अपनी प्रतिभा को नहीं भुलाना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो सके वह दया या क्षमा से काम ले। इसके अभाव में उपेक्षा भाव से काम ले। अन्य भाव उसके लिए कल्याणकर नहीं होता। कभी-कभी निर्देशक का दुष्ट शोधक से पाला पड़ जाता है। उसकी दुष्टता से उसे क्षुब्ध नहीं होना

चाहिये। जहाँ तक हो सके वह उसे निभाये, अन्यथा उसे शान्तिपूर्वक समझा-बुझा कर विदा कर दे। दुष्ट अकारण अपकारी होता है। उससे क्रुद्ध होकर प्रतिशोध लेने का इरादा करना मानसिक संघर्ष के समय को प्रकाशित करता है। इन राग-द्वेषों को सोचने या दुरुस्त करने के लिए निर्देशक के पास समय नहीं होता है। इनमें समय व्यतीत करने का अभिप्राय है अपने कर्तव्य का गला घोटना। उसे तो काम से काम रखना चाहिये इधर वालों से मुंह मोड़ लेना चाहिये।

कर्तव्यपरायण निर्देशक के पास से अनेक अवगुण अनायास ही भाग जाते हैं। लोभ दम्भ अस्मिता अपकारिता आदि अपने आप ही उसे छोड़ जाते हैं क्योंकि वह अपने कर्तव्य में विलीन रहता है, फिर इनकी सेवा कौन करे? उपेक्षित होकर ये दुर्लक्षणीय अवगुण स्वतः ही किनारा कर जाते हैं।

स्पष्टता

निर्देशक अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कोई ऐसी दुकान लगाकर नहीं बैठता जहाँ उसे अपने ग्राहकों से चिकनी-चुपड़ी बातें करके अपने व्यापार की वृद्धि करनी पड़े। उसे यह तो ध्यान रखना चाहिये कि मेरे किसी व्यवहार से मेरे छात्र को कोई कष्ट न हो फिर भी उसे स्पष्ट बात कहने में कभी हिचकना नहीं चाहिये। शोधक के कार्य के सम्बन्ध मे उसे स्पष्ट विवरण दे देना चाहिये। प्रस्तुत कार्य के सम्बन्ध में चिकनी-चुपड़ी बातों से शोधक को प्रसन्न कर रखना दुनियादारी की दृष्टि से भले ही ठीक हो निर्देशक का कर्तव्य नहीं है। ऐसा 'प्रिय' गवेषक के भविष्य को दुखद बना सकता है। कभी-कभी मधुर भर्त्सना भी गवेषक के उज्ज्वल भविष्य को निर्देशित करती है।

निर्देशक और निर्देश्य का संबंध आत्मवृद्धता की दृष्टि से देखना चाहिये वयोवृद्धता की दृष्टि से नहीं। उसमें गुरु-शिष्य या पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता है। निर्देशक अपने गवेषक के लिए जितना ही प्र म व्यक्त कर सकता है, किन्तु उसे कभी दुर्लालित नहीं बनाना चाहिये अन्यथा गवेषणा-कार्य भय की ओर से मिलने वाली प्र रणा से वंचित रह सकता है। यह भय शिकार और शिकारी के बीच में रहने वाला भय नहीं होता और न दो शत्रुओं के बीच मे रहने वाला भय ही होता है। यह भय प्रेम का वह अंकुश है, जो जूमने हाथी की गति को तीव्रता एवं परिवर्तन प्रदान करता है। प्रीति को दुरुपयोग से मुक्त रखने के लिये भय का सूक्ष्म-सार-बिन्दु उसके भाल का शृंगार करता है, किन्तु निर्देशक की दृष्टि मे उसमें अयथार्थता नहीं होनी चाहिए। मृदुता से परिव्याप्त यथार्थता निर्देशक का मोहक गुण है।

निर्देशक का व्यवहार कभी-कभी ऊपर से भीतिकारी होता हुआ भी कटुतापूर्ण नहीं होना चाहिये। निर्देशक का बाहरी रूखापन गवेषक के प्रति अभ्यास-भावना से विहित होना चाहिये। यदि उसका रूखापन कृत्रिम नहीं है तो उससे गवेषक का 'इष्ट'

स्थापित हो सकता है। अतएव श्रम का प्रयोग करते समय निर्देशक को यह देख लेना चाहिये कि वह ऐसे श्रम का उपयोग तो नहीं कर रहा है जो बाधक है। उसे सदैव 'प्रेरक श्रम' से ही काम लेना चाहिये। प्रत्येक गवेषक को श्रम सिखलाने की आवश्यकता नहीं होती। कुछ लोग तो स्वतः ही अपने कार्य के प्रति जागरूक होते हैं। ऐसे गवेषकों को तो मृदुल प्रोत्साहन ही अपेक्षित होता है।

कलाभिरुचि

साहित्यिक निर्देशक का काम केवल शास्त्रीय सीमाओं से नहीं चल सकता वरन् कला के प्रति भी उसकी अभिरुचि होनी चाहिये। साहित्यिक गवेषणा में तथ्यान्वेषण ही पर्याप्त नहीं होती प्रत्युत सुन्दरता की उन सूक्ष्म रेखाओं को भी परिलक्षित होना है जिनसे कला की 'माधुरी' प्रकाशित होती है। वह चाहे कलाकार न हो किन्तु कलाविद् अवश्य होता है। वह कला के मर्म से परिचित होता है। कला के शृंगार से प्रभावित होकर ही वह उसके गुणों की प्रशंसा कर सकता है और तभी वह कृति को कला के घाट उतरवा सकता है। कला का काम किसी वस्तु में आकर्षण पैदा करना होता है जिससे वह सम्पूर्ण मानव के प्रति मोहन-मन्त्र का काम करती है। गवेषणा अपने को तथ्या-न्वेषण या सामान्य विवेचन तक ही सीमित नहीं रख सकती वरन् कला के स्पर्श से उसे एक कान्त दीप्ति धारण करनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में गवेषक की जिम्मेदारी तो है ही निर्देशक की जिम्मेदारी भी कम नहीं है, अन्यथा शोधकृति पर कहीं यह लांछन आ सकता है कि कृति तर्क-सम्मत नहीं है, कहीं यह भी आ सकता है कि उसका प्रस्तुती-करण भी कलात्मक नहीं है। वैसे तो तर्क भी कला की प्रजा है, किन्तु अभिव्यंजना-सौन्दर्य अनुक्रम-सौन्दर्य प्रबन्ध-कल्पना आदि तो कला के प्रमुख अंग हैं। अतएव शोध-प्रबन्ध में कलात्मक व्यक्तित्व की स्थिति भी निर्देशक का अंग है। निर्देशक को शोध प्रबन्ध के आलोचन की अवस्था में बड़ी तत्परता तथा कुशलता से काम लेना चाहिये।

उत्साह-वर्द्धकत्व

पहले कहा जा चुका है कि निर्देशक गवेषक की झूठी प्रशंसा न करे अन्यथा मार्ग-भ्रष्ट होने के समय भी गवेषक को अपनी भूल का ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु सीधे से अच्छे काम की समुचित प्रशंसा भी गवेषक की कार्यपद्धति को ठीक एवं दृढ़ करती है। इस से उसका उत्साह बढ़ता है और अच्छे कार्य की मात्रा अधिक होती है। निर्देशक को जहाँ गवेषणा-मार्ग-भ्रष्ट दशा की ओर इंगित करना उचित है वहाँ अच्छे कार्य की प्रशंसा भी करनी चाहिये। उससे एक व्यवहार से हानि का दूसरा परिमार्जित होता है और दूसरे से दूसरा प्रबुद्ध होता है। शोधकर्ता के परिष्कृत और सजग होने के दो मार्ग स्पष्ट होते हुए भी पृथक् हैं। एक अनवरत निरीक्षण का मार्ग है और दूसरा प्रशंसा के प्रोत्साहन का। अच्छाई की प्रशंसा से उसकी गति मन्द या शिथिल नहीं होती

चाहिये। इस संबंध में शोधक की सतर्कता अपेक्षित है। सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए होती हैं, कुछ चढ़ कर गिरना केवल दुर्भाग्यपूर्ण कहलाता है। निर्देशक उचित प्रशंसा से अपने शोधक का उत्साह बढ़ाने का प्रयत्न करे और शोधक इस प्रशंसा को सौभाग्य समझ कर अधिकतर प्राप्ति की चेष्टा करे, तब तो प्रशंसा अपने उचित स्थान एवं सम्मान का उपयोग करती है, अन्यथा प्रशंसा की विडम्बना समझनी चाहिये।

निर्देशन का क्षेत्र

आज अपनी तीव्र गति एवं बहुमान्यता के कारण विज्ञान कला से अपने को श्रेष्ठ मानता है। विज्ञान विस्मित करता है और कला मुग्ध करती है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी हैं, किन्तु दोनों के क्षेत्र असंबद्ध नहीं हैं। कला विज्ञान का उपयोग करती है और विज्ञान को कला का उपयोग करना पड़ता है। निश्चित परिणाम को घोषित करके भी विज्ञान सामाजिक रुचि-सौन्दर्य की भावना-की अवहेलना नहीं कर सकता। विज्ञान एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक पहुँचने के लिए सुन्दर एवं रोचक अभिव्यक्ति चाहता है। विज्ञान पदार्थों की खोज करता है किन्तु पदार्थों की सुरूप अभिव्यक्ति—कला का सहयोग विज्ञान की उपलब्धि का मोहक एवं आकर्षक रूप है। विज्ञान और कला दोनों प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। विज्ञान प्रकृति के रहस्यों की खोज करता है और कला प्रकृति के सौन्दर्य की अभिव्यंजना करती है। विज्ञान का आधार प्रयोग है और कला का कल्पना।

निर्देशन अपेक्ष्य तथ्यों की घोषणा करते समय वैज्ञानिक स्वरूप धारण करता है और सौन्दर्य की सृष्टि के नियोजन के समय कला का। निर्देशन का वह पक्ष जिसमें निर्देशक स्वकीय आचरण एवं अभिरुचि के साथ शोधक के आचरण और अभिरुचि का ध्यान रखता है मनोविज्ञान से सम्बन्धित होता है किन्तु जब वह मुस्कराता हुआ हाथ, मुँह, आँख, सिर आदि के चतुर संकेतों द्वारा उदाहरणों के सरल नियोजन से शोधक की शंकाओं का समाधान करता हुआ सहज रूप में ही जटिल विषयों की व्याख्या कर देता है तब निर्देशन का कला-पक्ष अभिव्यक्त होता है। अपनी कला से मुग्ध करके निर्देशक शोधक को अपने बहुत निकट ले आता है। सरल सहज एवं मोहक भाव की सृष्टि ही कला का लक्ष्य है। ज्ञापन और प्रसाधन दोनों की सन्निहिति होने से निर्देशन विज्ञान और कला का सम्मिलित स्वरूप प्रस्तुत करता है। किसी शोध-कार्य में कला-पक्ष की उत्कृष्टता सिद्ध होती है और किसी में विज्ञान-पक्ष की। प्रत्येक में निर्देशन का भी समुचित योग रहता है। आजकल दोनों ही प्रकार के शोधकार्य सम्पादित हो रहे हैं, किन्तु सन्तुलित शोध-कार्य ही अभिप्रेत हैं जो सन्तुलित निर्देशन का ही परिणाम हो सकता है।

निर्देशन का स्वरूप

निर्देशन के प्रायः दो स्वरूप सामने आते हैं—एक सामान्य और दूसरा विशेष। पहले का संबंध शोधक की अनेक परिस्थितियों से रहता है और दूसरे का शोध प्रबन्ध से।

इसको अतिरिक्त निर्देशन तथा कार्य-निर्देशन का नाम भी दे सकते हैं। कार्य-निर्देशन का संबंध शोध-प्रबन्ध की रूप-रेखा, सामग्री, सामग्री उपयोग, संदर्भ-समाधान एवं विश्लेषण, निष्कर्ष, संदर्भ-निर्देश आदि से रहता है। इस संबंध में उपयुक्त स्थल पर प्रकाश डाला गया है। सामान्य या अतिरिक्त निर्देशन शोधक की सामान्य परिस्थितियों से होता है।

यद्यपि निर्देशक का सीधा संबंध शोधक के शोध-प्रबंध से ही होता है, फिर भी वह अनेक परिस्थितियों में कार्य करने वाले शोधक की अन्य समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। दो निकटवर्ती मनुष्यों के बीच जो स्थिति रहती है, साधारणतया उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि उसका संबंध निर्देशक की भावनाओं से अधिक रहता है। वह अपने शोधक को अपने वातावरण का समुचित लाभ देने का प्रयत्न करता है। यहाँ निर्देशक और शोधक के व्यक्तिगत संबंधों का विशेष योग रहता है।

अतिरिक्त निर्देशन के संबंध में निर्देशक तटस्थ भी रह सकता है। तटस्थता न दोष है, न गुण ही है, किन्तु राय माँगने पर निर्देशक शोधक को न तो टाल ही सकता है और न टालना ही चाहिये। यद्यपि अतिरिक्त निर्देशन कभी कभी निर्देशक को बहुत मँहगा पड़ता है, किन्तु उपेक्षा-भाव की संभावना बहुत कम रहती है।

निर्देशन के सिद्धान्त

निर्देशन के क्या सिद्धान्त होने चाहिये, सामान्य निर्देशक की यह जिज्ञासा बड़ी महत्वपूर्ण हो सकती है। निर्देशक का काम मार्ग दिखाना है, स्वयं मार्ग तै करना नहीं है। शोधक उससे अपनी शंकाओं का समाधान कर सकता है, विचार-विमर्श कर सकता है, अध्ययन के लिए ग्रन्थों के नाम पूछ सकता है, अपने मतों के संबंध में निर्देशक की राय ले सकता है, अनेक विद्वानों से परामर्श करके उनके विचारों पर भी राय ले सकता है और इस प्रकार से रचनाएँ प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसे निर्देशक की सरलता या दयालुता का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये। कभी-कभी किसी विषय पर शोधक निर्देशक से 'डिक्टेशन' लेने की कामना या प्रार्थना करता है। न तो शोधक को ही निर्देशक से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये और न निर्देशक को ऐसी प्रार्थना स्वीकार ही करनी चाहिये। शोधक को ऐसी प्रथा पड़ने पर निर्देशक के सामने एक मुसीबत खड़ी हो जाती है, जिसकी परम्परा और भी भयानक होती है। अनुगामी शोधक भी इस प्रवृत्ति के शिकार बन कर निर्देशक के लिए भार बन सकते हैं। अतएव निर्देशक को इस विपत्ति से दूर रहना चाहिये।

'डिक्टेशन' लेने की बात को सभी शोधक पसंद नहीं करते। कुछ को अपने सम्मान और निर्देशक के भार का ध्यान रहता है, लेकिन कुछ ऐसे जिद्दू होते हैं कि निर्देशक को उनसे पीछा छुड़ाना कठिन हो जाता है।

एक शोधक के बारे में लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि सप्ताह में एक दिन आने के स्थान पर वह प्रतिदिन आता था और प्रतिदिन नम्रतोत्पादक मुद्रा बना कर बैठ

जाता था । पूछने पर यही उत्तर मिलता—"डाक्टर साहब इस प्रसंग को तो आप ही लिखवा दीजिये । मैंने तो बहुत से ग्रन्थ देखे हैं, किन्तु मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ रहा है । इधर पत्नी बीमार है, उधर घर पर पिताजी बीमार हैं । छोटे बच्चे को पत्थरों से चोट 'फ्रैक्चर' हो गया है । क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है । इधर शोध-कार्य की अवधि भी समाप्त होने जा रही है । कभी-कभी सोचता हूँ कि इस सारी सामग्री को जला कर निश्चिन्त होकर बैठूँ अपने घर बार की सार-सँभाल करूँ —मैंने तो एक मुसीबत मोल ले ली । अगर आप चाहते हैं तो करवा दीजिये अन्यथा मैं कल ही यहाँ से कूच करने वाला हूँ" — आदि आदि । यह सुन कर निर्देशक को कुछ क्षोभ हुआ कुछ पश्चात्ताप हुआ जिसे करुणा ने दबा दिया और डिक्टेशन दे डाला । फिर तो ऊँट के गले बकरी बँध गई, बीमारी आहत हो गयी और प्रति सायंकाल लिखाये हुए शोध का हमला निर्देशक पर होने लगा । जैसे तैसे शोध का प्रमुख कार्य सम्पन्न हुआ कि निर्देशक को छुट्टी मिली और आराम की साँस ली । शोधक के कुछ अन्य साथियों को भी यह रोमांचक रोग लगते-लगते बचा ।

इसीलिए अन्यत्र कहा गया है कि शोधक की क्षमता का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् ही निर्देशक को उसके निर्देशन का कार्य-भार लेना चाहिये । ऐसी करुणा करुणा नहीं होती । उसे बैसाखी की पद्धति समझना चाहिये । यह करुणा नहीं अकर्तव्य है परोपकार नहीं बुरी आदत को अपनाना है । अपनी क्षमता को ताक में रख कर निर्देशक की क्षमता का दुरुपयोग करने वाले शोधक 'प्रयोग' की पूरी तैयारी करके जब जीवन में उतरते हैं तो उन्हें अपनी तथाकथित कुशलता का पूरा मूल्य असफलता एवं निन्दा के रूप में चुकाना पड़ता है । इस निन्दा का भागी निर्देशक को भी होना पड़ता है । अतएव निर्देशकों को चाहिये कि वे ऐसे 'तथाकथित योग्य' या 'अकर्मण्य' शोधकों का निर्देशन स्वीकार न करें और यदि करें तो पूरा काम उन्हीं से करायें अन्यथा या तो निर्देशक अनुचित सहायता कर या कुंजी-कर्म से साहित्य-शोध का संहार करने का अपयश लेंगे । निर्देशन एक कुशल कार्य है । इसका लक्ष्य ज्ञान का विकास है । 'डिक्टेशन' से ज्ञान अवरुद्ध होता है, विकसित नहीं होता । 'डिक्टेशन' का तात्पर्य है निर्देशक की परीक्षा, (शोधक की नहीं) जो परीक्षा की दृष्टि से भी अनुचित है । इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये ।

निर्देशन स्पष्ट एवं निश्चित होना चाहिये । अस्पष्टता निर्देशन के महत्त्व को समाप्त कर देती है । अस्पष्ट निर्देशन शोधक के कुछ काम का नहीं होता । चतुर शोधक उसमें से कुछ उपयोगी बातें निकाल सकता है । कोई-कोई शोधक उसमें भ्रान्त बुद्धि होकर असफल बने हैं । निर्देशन शोधकर्ता के मार्ग को सरल बनाने के लिए होता है । अस्पष्ट निर्देशन स्वयं एक शोधकर्ता का विषय बन जाता है । स्पष्ट निर्देशन की एक

इसके अतिरिक्त निर्देशन तथा कार्य-निर्देशन का नाम भी दे सकते हैं। कार्य-निर्देशन का संबंध शोध-प्रबन्ध की रूप-रेखा, सामग्री, सामग्री उपयोग, संशय-समाधान तथा अंतोगत निष्कर्ष, स्तर-निर्वाह आदि से रहता है। इस संबंध में उपयुक्त स्थल पर प्रकाश डाला गया है। सामान्य या अतिरिक्त निर्देशन शोधक की सामान्य परिस्थितियों से होता है।

यद्यपि निर्देशक का सीधा संबंध शोधक के शोध-प्रबंध से ही होता है फिर भी वह अनेक परिस्थितियों में कार्य करने वाले शोधक की अन्य समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। दो निकटवर्ती मनुष्यों के बीच जो स्थिति रहती है, साधारणतया उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि उसका संबंध निर्देशक की भावनाओं से अधिक रहता है। वह अपने शोधक को अपने वातावरण का समुचित भाग देने का प्रयत्न करता है। यहाँ निर्देशक और शोधक के व्यक्तिगत संबंधों का विशेष योग रहता है।

अतिरिक्त निर्देशन के संबंध में निर्देशक तटस्थ भी रह सकता है। तटस्थता न दोष है, न गुण ही है, किन्तु राय माँगने पर निर्देशक शोधक को न तो टाल ही सकता है और न टालना ही चाहिये। यद्यपि अतिरिक्त निर्देशन कभी-कभी निर्देशक को बहुत मँहगा पड़ता है, किन्तु उपेक्षा-भाव की संभावना बहुत कम रहती है।

निर्देशन के सिद्धान्त

निर्देशन के क्या सिद्धान्त होने चाहिये सामान्य निर्देशक की यह जिज्ञासा बड़ी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। निर्देशक का काम मार्ग दिखाना है स्वयं मार्ग तै करना नहीं है। शोधक उससे अपनी शंकाओं का समाधान कर सकता है, विचार-विमर्श कर सकता है, अध्ययन के लिए ग्रन्थों के नाम पूछ सकता है, अपने मतों के संबंध में निर्देशक की राय ले सकता है और विद्वानों से परामर्श करके उनके विचारों पर भी राय ले सकता है और इस प्रकार प्रेरणाएँ प्राप्त कर सकता है किन्तु इसे निर्देशक की सरलता या दयालुता का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये। कभी-कभी किसी विषय पर शोधक निर्देशक से 'डिक्टेशन' लेने की कामना या प्रार्थना करता है। न तो शोधक को ही निर्देशक से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये और न निर्देशक को ऐसी प्रार्थना स्वीकार ही करनी चाहिये। शोधक को ऐसी आदत पड़ने पर निर्देशक के सामने एक मुसीबत खड़ी हो जाती है जिसकी परम्परा और भी भयानक होती है। अनुगामी शोधक भी इस प्रवृत्ति के शिकार बन कर निर्देशक के लिए भार बन सकते हैं। अतएव निर्देशक को इस विपत्ति से दूर रहना चाहिये।

'डिक्टेशन' जैसी भी बात को सभी शोधक पसंद नहीं करते। कुछ को अपने सम्मान और निर्देशक के भार का खयाल रहता है, लेकिन कुछ ऐसे निकृष्ट होते हैं कि निर्देशक को उनसे पीछा छुड़ाना कठिन हो जाता है।

एक शोधक के संबंध में लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि सप्ताह में एक दिन आने के स्थान पर वह प्रतिदिन आता था और प्रतिदिन [illegible] कर बैठ

इसलिए निर्देशक को भी शोध के कारकों में स्थान दिया गया है। शोध का चौथा कारक कार्य-पद्धति है। निर्देशक से निर्देशन तो किसी स्थिति पर लिया जा सकता है, किन्तु कुछ विशेष अवसर भी होते हैं जबकि निर्देशन की बड़ी आवश्यकता होती है। निर्देशन का श्रीगणेश कार्य-प्रारम्भ करने के लिए होता है। फिर जब कभी कार्य-गति मन्द या शिथिल पड़ती है और उसका कारण शोधक के मन की किसी उलझन में निहित होता है, तब निर्देशन की आवश्यकता होती है। रूप-संस्कार, तर्क-प्रतिष्ठा, निष्कर्ष-संस्थापन आदि में भी निर्देशन की आवश्यकता पड़ जाती है।

इस प्रकार कार्य के प्रारम्भ और संचालन करने के लिए पुस्तकावलोकन शोध की बड़ी भारी आवश्यकता है। पुस्तकालय में बैठ कर गवेषक को अपनी मेधा का समुचित उपयोग करना पड़ता है। न तो पुस्तकालय की सारी पुस्तकें ही गवेषक-विशेष के लिए उपयोगी होती हैं और न प्रत्येक पुस्तक प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ी जाती है। आवश्यकता के अनुरूप ही किसी ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये और आवश्यकता के अनुरूप ही उसमें से सामग्री संकलित करनी चाहिये। जो गवेषक सब-कुछ पढ़ कर सब-कुछ लिखते जाते हैं वे शोध-ग्रन्थ लिखते समय एक दल-दल में फँसे हुए मिलते हैं। निर्देशक के पास कोई जादू का डंडा नहीं होता जिसे घुमा कर वह इस दल-दल को समाप्त कर दे या शोधक को इतनी शक्ति दे दे कि श्रम और समय की हानि के बिना ही वह इससे बाहर आ जाये।

इसलिए सामग्री-संकलन के लिए किसी ग्रन्थ का अवलोकन तथा शोध-प्रबन्ध में उपयोग करने के लिए सामग्री-संकलन ये दो कार्य गवेषक के लिए बड़े महत्त्व के हैं। इनके सम्बन्ध में सतर्क रहने से गवेषक अपने श्रम और समय की रक्षा कर सकता है। गवेषक की सतर्कता पर ही उसकी भावी कृति का मूल्य निर्भर रहता है। कई शोध-ग्रन्थों में सामग्री का समुचित उपयोग न होने से उनकी असफलता प्रकट हो जाती है। सामग्री-उपयोग में विवेचनात्मिका प्रतिभा से काम लेना चाहिये।

2 विषय-चयन

विषय

संस्कृत-कोशों में विषय का अर्थ आधार या भूमि है। अंग्रेजी में इसे 'सब्जेक्ट', 'टॉपिक' या 'प्रॉब्लम' नाम से अभिहित किया जाता है। हिन्दी-शब्दकोश 'प्रकरण' को विषय का पर्याय कहते हैं। अभिप्राय, उपपाद्य वस्तु, विवेच्य आदि विशेषणों से भी 'विषय' अभिप्रेत माना जाता है। अनेक शब्दों के अर्थों में थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी स्थान-विशेष पर अर्थान्तर मिट जाता है। शोध के क्षेत्र में भी 'विषय' ऐसे ही स्थान की व्याप्ति कर लेता है।

विषय शोध-कार्य का आधार या बीज होता है। जिस प्रकार बीज अंकुरित शाखा प्रशाखाओं में प्रसारित पल्लवित और कुसुमित होकर फलित होता है उसी प्रकार विषय भूमिका या प्रस्तावना में अपना परिचय देकर अनेक अध्यायों में बढ़ता और फैलता है। प्रत्येक अध्याय के निष्कर्ष उसके फूल-पत्ते होते हैं और अन्तिम निष्कर्ष में वह फलित होता है। विषय की सफलता उसकी तर्कपुष्टिता पर है और उसकी सार्थकता उसकी उपयोगिता में है।

आवश्यकता

विषय समस्त चिन्तन मनन अध्ययन या लेखन की आधार-भूमि होता है। विषय के बिना कुछ कहना या लिखना सम्भव नहीं है। जो कुछ कहा या लिखा जाता है, वह किसी से सम्बद्ध होता है। वही विषय होता है। हम व्यवहार में जब कोई बात-चीत करते हैं तो उसका भी कोई-न-कोई विषय होता है। स्वस्थ व्यक्ति से विषयहीन बातों की अपेक्षा या कल्पना नहीं की जा सकती। विषयहीन बातें अस्वस्थ मस्तिष्क का प्रमाण है, यही 'प्रलाप' कथित की जाती है।

शोध-कार्य की चाह ही विषय से उठती है। शोध का आरम्भ और प्रसार भी विषय से होता है और अन्त भी विषय से। जिस प्रकार ब्रह्म एक से अनेक होता है, उसी प्रकार विषय में भी एक से बहुधा होने की शक्ति होती है। वस्तुतः विषय की केन्द्रीय रचना है। जिस प्रकार अनन्त ब्रह्म में उसकी शक्ति से अनेकधा अभिव्यक्ति पाकर भी उसी में विलीन

होता है उसी प्रकार शोध-कृति का विकास विषय में उगता है और विषय में ही समाप्त हो जाता है। विषय के बिना न तो शोध-कार्य के आविर्भाव की कल्पना की जा सकती है और न उसके अवसान की। प्रतिपादन का कारण प्रतिपाद्य होता है। जहाँ प्रतिपाद्य ही नहीं वहाँ प्रतिपादन किसका और कैसे ?

प्रकृति

विषय की प्रकृति प्रतिपादन के लिए भूमि या आधार प्रदान करता है। उसमें प्रसार्यता होती है। बढ़ने की दृष्टि से विषय और रबड़ सामान्यतः समान गुण वाले होते हैं। फिर भी विषय में कुछ विशेषता होती है। रबड़ अधिक बढ़ने पर टूट जाती है। बढ़ाने वाले का कौशल उसके टूटने को नहीं रोक सकता किन्तु विषय अपने प्रतिपादक के कौशल से उसकी इच्छानुसार बढ़ सकता है। कुशलता के हाथों में प्रबन्ध-विषय किसी भी सीमा तक बढ़ कर अपनी कलात्मकता को सुरक्षित रख सकता है। साहित्य की किसी इतर विधा के विषय को यह सुयोग प्राप्त नहीं होता। संभवतः इसी को ध्यान में रखते हुए स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा ने अपने एक व्याख्यान में जयपुर में कहा था—'जो सुविधा निबन्ध या प्रबन्ध को प्राप्त है वह साहित्य की किसी अन्य विधा को प्राप्त नहीं है। निबन्धकार अपने विषय के वाहन पर कहीं भी घूम सकता है। यह उसकी इच्छा है कि वह अपने उद्देश्य की सिद्धि 'परोक्षकृत विष्णु परिक्रमा' से करे या स्वकृत ब्रह्माण्ड परिक्रमा से'। मनीषी वक्ता के इस कथन में विषय की प्रकृति अभिव्यक्त हो जाती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि विषय में संकीर्ण या विकीर्ण होने की क्षमता एक ही साथ सन्निहित रहती है। जो विषय केवल संकीर्ण या विकीर्ण होने की प्रकृति से पीड़ित होता है उसमें व्याप्ति दोष बतलाया जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि विषय की मूल प्रकृति अनुबन्धिता है, जिसके अन्तर्गत तथ्यों के संकलन व्यवस्थापन और व्याख्यान के लिए पर्याप्त अवकाश होता है।

क्षेत्र

तथ्य व्यष्टि रूप में संकलित किये जाते हैं। उनके समष्टिरूप में व्यवस्थापन से सत्य प्रस्तुत होता है। सत्य को प्रस्तुत करने के लिये तथ्याख्यान का प्रयत्न जितना छोटा हो सकता है उतना ही बड़ा भी हो सकता है। इसीलिए बहुत छोटे शोध-प्रबन्ध भी देखे जाते हैं और बहुत बड़े भी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बड़े शोध-प्रबन्ध में विषय का क्षेत्र बढ़ जाता है और छोटे में घट जाता है। तथ्यों की संख्या से उनका व्यवस्थापन और व्याख्यान प्रबन्ध के आकार-प्रकार को घटा-बढ़ा सकते हैं।

अनुसन्धान की प्रकृति केवल तथ्यों की अपेक्षा नहीं है वरन् उनकी तथ्याव्यवस्था एवं निष्कर्षात्मक व्याख्या की है। जिस विषय में व्यापकत्व के कारण तथ्य-व्यवस्था के लिए अवकाश नहीं होता वहाँ तथ्यों की व्याख्या को भी कमजोर पड़ना पड़ता है। व्याख्या के

किसी प्रकार–प्रकार से विषयगत दूसरा निर्धारित नहीं हो सकता। बदलती हुई मान्यता निष्कर्ष-समन्वित नहीं ला सकती। साहित्यिक विषय भाषा और साहित्य की सीमाओं में किसी भी दिशा में जा सकता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साहित्य मानव-जीवन की अभिव्यक्ति है और मानव-जीवन की व्यापकता के संबंध में जितना कहा जाये थोड़ा है। जीवन मानव के अन्तर और बाहर का संयुक्त स्वरूप है। साहित्य इन दोनों पहलुओं की अभिव्यक्ति होता है। साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह जीवन के अन्तः पक्ष—भाव-पक्ष को अधिक प्रधानता देकर व्यक्त करता है। जीवन के बाह्य पक्ष में भावों की अभिव्यक्ति भी निहित होती है। इसी प्रकार साहित्य में भी भाव-पक्ष बाह्य पक्ष द्वारा अभिव्यक्त होता है जिसे भाषा का माध्यम मिलता है। भाषा का संबंध अभिव्यक्ति से तो है ही, सामाजिक परिप्रेक्ष्य से भी होता है। केवल भाषा के आधार पर ही देश काल और समाज की पहचान हो सकती है।

वैसे साहित्य भाषा से पृथक अपना अस्तित्व नहीं रखता है। फिर भी आधुनिक वैज्ञानिकों ने भाषा के अध्ययन को वैज्ञानिक धरातल पर उतार कर एक नया रूप देने का प्रयत्न किया है। अध्ययन के नूतन परिप्रेक्ष्य में भाषा का कार्य-क्षेत्र भी बहुत व्यापक हो गया है। ध्वनि रूप, अर्थ तथा शब्दकोश के परिवेश में तो भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रचलित है ही किन्तु आज तो लिपि वक्तृता, वाक्य आदि में भी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन को विकसित किया है। इसके आधार पर व्यक्ति का और उसके मानस का उसके चारों ओर की परिस्थितियों का अध्ययन भी होने लगा है। इस अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्ति और प्रयोग पर विशेष ध्यान रखा जाता है। व्यक्तियों के भाषागत व्यवहार में बहुत भेद होता है। एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न-प्रसंगों में भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियों, शब्दों और अर्थों का प्रयोग करता है। अनेक बार व्यक्ति की बदली गई वाक्य रचनाओं का सृजन करती है। एक व्यक्ति प्रायः एक शब्द से जिस अर्थ का बोध करता है, वह उसी शब्द का वैसा ही बोध नहीं कर सकता क्योंकि उस शब्द से संबंधित प्रसंग सब नहीं होता है।

विषय विविधता

इसलिए यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि भाषा-संबंधी विषयों का क्षेत्र भी अब विस्तीर्ण एवं व्यापक हो गया है। विवरण इतिहास और तुलना के परिप्रेक्ष्य में भी भाषा-वैज्ञानिक विषयों के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। प्रादेशिक एवं ग्रामीण बोलियों का अध्ययन अधिक छोटी इकाइयों में करने की प्रवृत्ति भाषा विज्ञान के क्षेत्र का और भी अधिक विस्तार कर रही है। शैली के अन्तर्गत भी भाषा का अध्ययन किया जाता है। इस संदर्भ किसी कवि या लेखक की भाषा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव के संदर्भ में भी किया जाता है। शब्द-चयन वाक्य-व्यवस्था शब्द शक्ति लोकोक्तियों और मुहावरों से

भाषा के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार साहित्यिक शोध-कार्य के लिए भाषा के क्षेत्र में भी बहुत बड़ी गुंजाइश है।

साहित्यिक क्षेत्र में तो शोध-कार्य को किसी दिशा में ले जाया जा सकता है। जो साहित्य अपनी पद्य-गद्य शैलियों में विभक्त होकर अनेक विधाओं का रूप ले लेता है। वह मानव-जीवन मानव-समाज के अनेक पक्षों से भी संबद्ध होता है। उनका अध्ययन युग परंपरा समाज संस्कृति व्यक्ति-कृति (विशेष) तुलना आदि अनेक दृष्टिकोणों से भी किया जाता है। इनमें भी अनेक उपभेद किये जा रहे हैं, जैसे समाज के अन्तर्गत 'नारी'। 'प्रसाद के नारी-पात्र' 'आधुनिक हिन्दी-कविता में नारी' आदि विषय भी बहुत प्रचलित हो रहे हैं। आधुनिक अध्येता साहित्य को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देख रहा है, यह युग-चेतना का प्रभाव है, जो विश्व-सम्पर्क के सुयोग से उपलब्ध हुई है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से साहित्य अनुस्यूत होता जा रहा है वे सभी अध्ययन के विषय हैं। एक के कारण दूसरे दृष्टिकोण में जो जटिलता आती है उसको पृथक करके देखना भी साहित्यिक शोध का विषय है।

विषय के संबंध में प्रायः एक बात का भय रहता है और वह है 'व्याप्ति-दोष'। अति-संकीर्णता और अति-व्यापकता शोधक के कार्य को दुरूह बना देती है। यद्यपि आलोचनात्मक कौशल से अध्येता इन दोनों पर भी काबू कर सकता है किन्तु यह हर किसी के बस की बात नहीं है और 'आलोचना अनुसंधान के मौलिक रूप को ही बाधित कर सकती है'। उदाहरण के लिए 'कामायनी में चरित्र-चित्रण' को ले सकते हैं। इस विषय में अति संकीर्णता स्पष्ट है क्योंकि कामायनी के चरित्रों का चित्रण शोधक को वर्षों तक अध्ययन में निमग्न रखे यह सामान्यतया दुष्कर है। अध्ययन को बढ़ाने के लिए विषय में गुंजाइश नहीं है। इसके विपरीत 'हिन्दी-साहित्य में शृंगार रस' जैसे विषय में अतिविस्तीर्णता भी स्पष्ट है। यह विषय अतिव्याप्त है। ऐसे विषय पर किया हुआ शोध-कार्य कुल्हड़ों में सागर को भर दिखाने-जैसा ही हो सकता है। ऐसे विषयों से शोध प्रकृति बाधित होती है।

'विषय का क्षेत्र और सीमा' निश्चित होनी चाहिये जिसके भीतर विषय में पूरे मनोयोग के साथ काम किया जा सके। विषय के अनिश्चित होने से वह तथ्यों के साथ बाढ़ के पानी के समान यत्र-तत्र-सर्वत्र बह जाता है और विचार और चिन्तन की मूल धारा खो-सी जाती है। इससे शोधार्थी के समय और शक्ति का अनावश्यक क्षय होता है। ऐसे कार्य में प्रसार होता है गंभीरता नहीं। तथ्य-पक्ष बढ़ने से सिद्धान्त-पक्ष दुर्बल और क्षीण हो जाता है। इसलिए विषय का क्षेत्र स्पष्ट एवं नियत होना चाहिये।

विषय-क्षेत्र बड़ी सतर्कता से निर्धारित करना चाहिये। विषय-क्षेत्र का परिमाण शोधक की एक बड़ी भारी योग्यता से संबंध रखता है। जहाँ शोधक दैनिक भाँति का

निवारण नहीं कर पाता वहां कृति में भ्रान्तिमयी विषय-वस्तु का आना बहुत असंभव नहीं होता। इतना ही नहीं कभी-कभी ऐसी भ्रान्ति लेखक को हास्यास्पद कर देती है। 'पौराणिक कथाओं की आलोचनात्मक व्याख्या" के महावन में भटकते हुये एक संस्कृत के शोधार्थी ने दो वर्ष बाद भूल पकड़ में आने पर बड़ी कठिनता से निराशा के वातावरण से मुक्ति प्राप्त की। विषय-क्षेत्र के निर्धारित न होने से कई शोधार्थियों को ऐसी ही घोर निराशा का सामना करना पड़ता है। अतएव विषय-क्षेत्र का निर्धारण शोध-कार्य की सबसे पहली आवश्यकता है।

विषय-चयन की भूमिका

प्रायः यह देखने में आता है कि शोधार्थी विषय निर्धारित होने के बाद लेखों, ग्रन्थों और विद्वत्परामर्शों का उपयोग करते हैं। वस्तुतः इनका उपयोग उनको विषय-चयन के लिये भी करना चाहिये। जब तक शोधार्थी के हाथ में कोई निश्चित विषय न आजाये तब तक विषयानुसंधान में शिथिलता नहीं आनी चाहिये। इससे न केवल पूर्वानुभूति प्रौढ़ होती है वरन् शोध कार्य सुकर होता है। सामान्यतया विषय-चयन की चार भूमिकाएं दृष्टिगत होती हैं, जिन पर विषय चयन हो सकता है।

पहली भूमिका लेखों और ग्रन्थों का अवलोकन है। शोधार्थी को अपनी रुचि के अनुरूप लेखों और ग्रन्थों का अवलोकन अवश्य करना चाहिये क्योंकि इनमें कहीं कोई संकेत उसको वहां मिल सकता है। हो सकता है कि शोधार्थी को रुचि से संबंधित अनेक संकेत भी वहीं मिल जावें। ऐसे संकेतों को किसी नोट-बुक में टीप लेना अधिक अच्छा होता है। पूर्वानुभूति के आधार पर संकेतों से संबंधित स्तर ग्रन्थों का अवलोकन विषय-चयन की दिशा में दूसरी भूमिका प्रस्तुत करता है।

इसके लिए ग्रन्थालयों में जाकर अनेक ग्रन्थों का अवलोकन अपेक्षित है क्योंकि वहाँ अनेक या अनेकों से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ मिल सकते हैं। इस सम्बन्ध में अपने लक्ष्य को सुकर बनाने की दृष्टि से अनुभवी साथियों या मित्रों से भी परामर्श किया जा सकता है किन्तु यही खतरनाक है। संकेत को विषय-रूप में प्रस्तुत करना प्रायः खतरे से खाली नहीं होता। कई बार ऐसा देखा गया है कि अनुभवहीन परामर्श देता रह गया है और विषय किसी दूसरे व्यक्ति ने ले लिया है। इससे परामर्श की आवश्यकता को कम नहीं किया जा सकता। हाँ दुरालाप या अनुराग का अभाव परामर्श को व्यर्थ अवश्य बना सकता है। जिस प्रकार परामर्श में दूरदर्शिता बरतने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ग्रन्थावलोकन में भी होती है। अवलोकन और अध्ययन का स्तर भिन्न होता है। अवलोकन क्षणिक और अध्ययन गंभीर होता है। इसलिए इस समय अवलोकन को अध्ययन का स्थान नहीं देना चाहिये। इस समय तो केवल "[illegible]" की वृत्ति ही चरितार्थ होनी चाहिये। अभी तो संकेत की पुष्टि करने के लिए अवलोकन

ही अपेक्षित होता है। इसके लिए अधिक समय और श्रम देने की न तो आवश्यकता है और न देना बुद्धिमत्ता है। आवश्यक प्रकरणों और प्रसंगों को देखकर ही अपने प्रयोजन की सिद्धि की जा सकती है।

विश्वविद्यालयीय ग्रन्थालयों में ऐसे ग्रन्थों का अभाव नहीं होना चाहिये। यदि संबंधित ग्रन्थ वहाँ न हों तो अन्यत्र देखे जा सकते हैं। ग्रन्थालयों में उनके अधिकारी लोग बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। जिस ग्रन्थ के खोजने में एक नया आदमी एक-दो दिन ले सकता है उसी को संबंधित अधिकारी क्षणों में बता सकता है। उसके उपयोग के लिए भी व्यावहारिक कुशलता की आवश्यकता होती है। उसका सहयोग प्राप्त करने के लिए विनयमयी शिष्टता से काम लेना चाहिये। विनय-माधुर्य अमोघ शक्ति से सम्पन्न होता है। इस संबंध में अकबर की यह उक्ति स्मरणीय है—

बनोगे खुसरुवे प्रकलीमे दिल शीरीं जुबा होकर।
जहाँगीरी करेगी यह अदा नूरेजहाँ होकर॥

ग्रन्थावलोकन का प्रमुख फल यह होना चाहिये कि शोधक संकेत को विषय-रूप में विकसित कर सके।

ऐसे संकेतों के स्पष्टीकरण के लिए विद्वानों के वार्तालाप और भाषण बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस संबंध में जो सामग्री दुष्प्राप्य होती है, उनमें सहज ही से प्राप्त हो जाती है। ऐसे अवसरों पर अनुसंधित्सुओं को बहुत सावधान रहना चाहिये। शंका होने पर प्रकरण-विशेष के संबंध में विद्वानों से विचार-विनिमय कर लेना भी अच्छा होता है। ऐसे अवसरों पर संकेत ही नहीं कभी-कभी निश्चित विषय तक मिल जाते हैं।

उक्त भूमिकाओं का उपयोग क्रमिक या समानान्तर, किसी रूप में किया जा सकता है। विषय के आधारित होने पर उसके संबंध में निर्देशक की सम्मति आवश्यक होती है। उसके समक्ष अनुसंधित्सु कई विषय रख सकता है। आवश्यकता समझ कर वह उनके सम्बन्ध में शोधार्थी से विशेष बात-चीत भी कर सकता है और फिर किसी एक विषय के सम्बन्ध में वह अपना निर्णय दे सकता है। उसके निर्णय के साथ कुछ सशोधन भी प्रस्तुत हो सकते हैं। इनको लेकर शोधार्थी अपने निर्देशक के साथ विचार-विनिमय कर सकता है।

इस भूमिका पर केवल शोधार्थी को ही सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं होती प्रत्युत निर्देशक को भी सतर्क रहना चाहिये। जिस प्रकार वह शोधार्थी को संकेत-संग्रह और विषय-निर्धारण के लिए प्रेरित करता है, अनेक लेखों और ग्रन्थों के अवलोकन के लिए परामर्श देता है। उसी प्रकार उसे शोधार्थी को विषय-परीक्षा के लिए भी परामर्श देना चाहिये। उसका कर्तव्य है कि वह स्वयं भी उसकी उपयुक्तता पर विचार करे और अनेक शोध-विषयों के साथ रखकर उसे परखे-परखावे।

विषय-चयन की प्रणालियाँ

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि शोधार्थी को निर्देशक के सामने अपने सोचे हुए विषय बिना किसी दुराव या छिपाव के ही रख देने चाहिये। यह ठीक है कि विषय को शोधनीय सिद्ध कर प्रमाणित करना पड़ता है। विद्वानों से परामर्श भी बड़ी सावधानी से लेने पड़ते हैं, किन्तु निर्देशक के साथ बड़ी श्रद्धा और बड़े विश्वास से चलना ही कल्याण-प्रद होता है। ऐसे निर्देशक का चुनना जो विश्वसनीय न समझा जाये अनर्थकारी होता है। इसके अतिरिक्त जब तक निर्देशक के सामने विषय को निरूपित करके न रखा जाये तब तक निर्देशक उस पर अपना अन्तिम मत व्यक्त करने की स्थिति में नहीं हो सकता। इसलिये उसके समक्ष विषय का मौखिक रूप में आना अनिवार्य होता है।

यह प्रणाली व्यवहार में बहुत कम आती है। इसका सम्बन्ध शोधार्थी की रुचि और क्षमता से होता है, जो शोध-कार्य की सफलता के मूल आधार हैं। इस प्रणाली में विषय-उद्भावना शोधार्थी की सूझ से होती है। यह प्रणाली कुछ अधिक असाध्य होते हुए भी निर्देशक के सुझावों को स्थान देती है। निर्देशक के परामर्श और प्रस्ताव से परिमार्जित विषय में रुचि निरन्तरता तथा व्याप्ति की गुंजाइश नहीं रहती। इसे व्यक्ति-मूलक प्रणाली कहना उचित होगा। इसमें बैठकों, चर्चाओं, परामर्शों और सुझावों का योग होते हुए भी विषय-निर्धारण में अनुसंधित्सु की रुचि प्रधान रहती है। इसलिये इसे रुचि-मूलक प्रणाली भी कह सकते हैं। इसका संबंध शोधार्थी की सहज रुचि से होता है।

दूसरी प्रणाली स्वीकृतिमूलक होती है। इसमें निर्देशक शोधार्थी की अभ्यर्थना पर अपनी रुचि का विषय दे देता है, किन्तु वह शोधार्थी की क्षमता का ध्यान अवश्य रखता है। शोधार्थी उसी को स्वीकार कर लेता है। इस प्रणाली में उसकी रुचि के लिए विशेष स्थान नहीं होता। आजकल अधिकतर यही प्रणाली प्रचलित है।

तीसरी प्रणाली योजनामूलक होती है। इसमें शोधार्थी को विषय का चयन किसी विशेष योजना की सीमाओं में करना पड़ता है। यह प्रणाली शोधार्थी की रुचि और क्षमता दोनों की उपेक्षा कर देती है। इस प्रणाली का लक्ष्य तो बहुत अच्छा है किन्तु इसके साधनों में कर्ता की उपेक्षा बहुत बुरी चीज है। इसमें मूल की अपेक्षा ब्याज को अधिक महत्त्व मिल जाता है, शोधार्थी की रुचि और क्षमता की अपेक्षा योजना को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

चौथी प्रणाली सूची-मूलक है। इसका लक्ष्य शोधार्थियों के लिए सामूहिक रूप से सुविधा उत्पन्न करना है। इसके अन्तर्गत विभाग प्रतिवर्ष एक विषय सूची तैयार करता है और शोधार्थी उसी में से अपनी रुचि का विषय चुन लेते हैं। जो विषय चुन लिये जाते हैं उनको चिह्नित कर दिया जाता है। यह प्रणाली शोधार्थी की सुविधा को ध्यान में रखती है। उस सीमा तक बहुत अच्छी है, किन्तु इसमें दो दुर्बलताएं हैं—एक तो यह

है कि संभवतः इसमें भी शोधार्थी को रुचि का विषय न मिल सके दूसरी यह कि पीछे आने वाले शोधार्थी को कोई अच्छा विषय ही न बच पाये और उसको बचे हुए विषयों में से ही कोई वैसा-तैसा विषय चुनना पड़े। विषय-सूची तैयार करने वाला अधिकारी-वर्ग व्यक्तिगत क्षमता को ध्यान में नहीं रख पा सकता अन्यथा सूची दुस्साध्य हो जाये। इसके अतिरिक्त शोधार्थी की रुचि भी प्रायः अनिर्णीत रहती है।

सर्वोत्तम प्रणाली

मेरी समझ में प्रथम प्रणाली सर्वोत्तम है, किन्तु उसमें भी कुछ परिवर्तन अपेक्षित है। इस प्रणाली का एक दोष यह है कि इसमें व्यक्ति की रुचि को प्रतिमान्यता देने से उसमें निरंकुशता की आशंका हो सकती है। इसीलिये निर्देशक के परामर्श और सुझावों को भी महत्त्व दिया गया है। मेरी समझ में शोधार्थी की रुचि तथा निर्देशक के सुझावों का समझौता ही सर्वोत्तम प्रणाली को जन्म दे सकता है। शोध-विषयों की सूची से शोधार्थी प्रेरणा प्राप्त कर सकता है, उसी में से किसी विषय को चुनना अनिवार्य नहीं होना चाहिये।

विषय-परीक्षा एवं अन्तिम निर्णय

विषय-परीक्षा अनेक दृष्टियों से की जानी चाहिये। परीक्षा की पहली कसौटी विषय की उपयोगिता है। यों तो ज्ञान के क्षेत्र में कोई भी विषय अनुपयोगी नहीं है, फिर भी जो विषय सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी माने जाते हैं उन्हीं को अधिक उपयोगी समझना चाहिये। विषय की उपयोगिता सूचना और ज्ञान-वृद्धि दोनों ही दृष्टियों से हो सकती है। उपयोगी विषय पर किया हुआ कार्य सामाजिक जीवन और ज्ञान का विकास करता है। साहित्य में अनुपयोगी-जैसी किसी वस्तु के लिए अवकाश नहीं होता। इसलिये उससे संबंधित कोई भी विषय जिसके चयन में बुद्धि का आधार रहा है, उपयोगी हो सकता है। साहित्य और उपयोगिता का गहरा संबंध है। जिसको साहित्यकार का सत्य कहते हैं वह स्वयं उपयोगनिष्ठ होता है। तथ्य संकलित करके उनके माध्यम द्वारा निष्कर्षों से जिस सत्य तक पहुँचा जाता है वे बड़े उपयोगी होते हैं। विषय में सत्य के किसी पहलू तक पहुँचने की क्षमता होनी चाहिये। यदि विषय से किसी सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता तो विषय को उपयोगी मानने में कोई तुक नहीं है। सामाजिक जीवन का प्रतिरूपण ही तो साहित्य है। यदि उसका अध्ययन मानव के लिए उपयोगी नहीं होगा तो और क्या उपयोगी हो सकता है? किन्तु साहित्य से उपयोगिता की खोज कर संकलित और व्यवस्थित करने के लिए ही तो विषय-विशेष का सहारा लिया जाता है।

महत्त्वपूर्ण विषय शोधार्थी को गौरव की भावना प्रदान करके उसके उत्साह को बढ़ाता है, जिससे कार्य में उसकी तत्परता होती है। विषय का महत्त्व शोधार्थी की अभिरुचि के बढ़ाने में भी बहुत सहायक होता है।

उपयुक्तता

विषय-परीक्षा की दूसरी कसौटी उपयुक्तता (Suitability) है। उपयुक्तता की माप सबसे पहले शोधार्थी की रुचि से की जाती है। रुचि के अनुकूल विषय को उपयुक्त कहा जाता है, किन्तु रोचकता ही उपयुक्तता का एक मात्र मापदंड नहीं है शोधक की क्षमता भी उसका एक मान-दण्ड है। जो विषय शोधार्थी की क्षमता से बाहर का है उसे उसके लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिये 'संस्कृत-काव्य-शास्त्र का हिन्दी-काव्य शास्त्र पर प्रभाव' को ले सकते हैं। यह विषय उस शोधार्थी की क्षमता से बाहर का है, जिसको संस्कृत का किञ्चित् ज्ञान नहीं है। वैसे तो ऐसे अनुसंधाता भी देखे गये हैं जिन्होंने शोध-कार्य को अवधि में अध्ययन करके अपनी क्षमता को बढ़ाया है और विषय को उपयुक्त बना लिया है, किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। क्षमता बढ़ाने के प्रयत्न में कभी-कभी अधिक समय भी लग जाता है। उपयुक्तता का अन्य मानदण्ड विषय की 'व्याप्ति-दोष' से मुक्ति है। उपयुक्त विषय से यह अभिप्राय भी है कि वह उपाधि के स्तर के अनुरूप है भी या नहीं। ऊँचे या नीचे स्तर का विषय उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार पी एच डी और डी लिट के विषयों में स्तर-भेद होना चाहिये उसी प्रकार 'डिसर्टेशन'* और पी एच डी के शोध-प्रबन्ध के विषय में भी अन्तर होना चाहिये। विषयानुकूलता इस बात सतारीय भेद को स्वीकार नहीं कर सकती। विषय-स्तर-भेद बौद्धिक स्तर से भी सम्बन्धित होता है। अतएव उपाधि-विशेष के स्तर के अनुरूप ही विषय लेना चाहिये।

मौलिकता

उपयुक्तता के अतिरिक्त विषय की परीक्षा मौलिकता के आधार पर भी की जानी चाहिये। मौलिक से तात्पर्य ऐसे विषय से है जो शोधार्थी को अछूता मिला हो। अछूते विषय पर कार्य करने में शोधार्थी को एक मानसिक संतोष अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त एक ही विषय पर पुनरा-पिष्टपेषण काम करना जब तक कि उसमें नवीन सूझ-बूझ न हो अच्छा नहीं है। किसी विषय की पुनरावृत्ति तभी होनी चाहिये जब कि उस पर मौलिक ढंग से काम कराई जाये अन्यथा ऐसी आवृत्ति एक साहित्यिक दुराव है।

स्पष्टता

शोधार्थी को अपने विषय की परीक्षा स्पष्टता के आधार पर भी करनी चाहिये। जिन शब्दों में विषय व्यक्त किया गया हो उनमें कोई अर्थ-संबंधी अस्पष्टता या उलझन

---

* यह निबन्ध जो एम ए. की परीक्षा में किसी विशेष प्रश्न-पत्र के स्थान पर प्रस्तुत किया जाता है।

नहीं होनी चाहिये। जहाँ अभिधान अभिधेय के संबंध में संदिग्ध उलझन कर सकता है वहाँ विषय की दुर्बलता स्पष्ट है। शोधार्थी उसका एक अर्थ लेता है और परीक्षक दूसरा। इससे अनुसंधाता का क्या अनिष्ट हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे संदिग्धार्थक विषय से शोध-वृत्ति उपहास्य बनती है। इसलिए विषय की शब्दावली का सुनिश्चित होना बहुत आवश्यक है।

अभिधेय-अभिधान से पृथक अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। कहने या लिखने वाले के मानस में एक बात हो और उसके शब्दों से दूसरी बात व्यक्त हो रही हो तो सुनने या पढ़नेवाला अर्थावगति शब्दों से ही कर सकेगा। विषय के संबंध में शोधकर्ता अपने अर्थ को पाठकों पर नहीं लाद सकता। पाठक तो उसी अर्थ का स्वीकार करते हैं जो शब्दों से निकलता है। इसलिये संदिग्ध शब्दावली के कारण कभी-कभी लेखक और पाठक के बीच विचार-भेद बन जाता है। लेखक यह कह कर अपनी जिम्मेवारी से अलग नहीं हो सकता कि 'मेरा अभिप्राय दूसरा है। आप अपने अर्थ को छोड़ कर मेरे अभिप्राय को समझने का प्रयत्न कीजिये। विषय-शब्दावली इतनी निश्चित होनी चाहिये कि उसमें किसी भ्रान्ति या द्विविधत्व के लिए कोई गुंजाइश न हो।

अनियत शब्दावली

अनियत शब्दावली शोध-कार्य में 'अव्याप्ति' या 'अतिव्याप्ति' दोष पैदा कर सकती है और उससे परीक्षक भ्रम हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रतिपाद्य और प्रतिपादन में भेद होने से कृति का अवमूल्यन होता है। इसलिये विषय की शब्दावली से ही शोधार्थी का दृष्टिकोण व्यक्त हो जाना चाहिये। उसमें उस मूल सूत्र का संकेत मिल जाना चाहिये जिससे कि वह नवीन व्याख्या करने जा रहा है।

हिन्दी-शोध-विषयों की सूची में ऐसे अनेक विषय भरे पड़े हैं जिनकी शब्दावली अनियत एवं अस्पष्ट है, जैसे —

(१) हिन्दी में भक्ति-रस का विवेचन
(२) हिन्दी-साहित्य में भक्ति और रीति की समकालीन प्रवृत्तियों का विवेचनात्मक अनुशीलन
(३) बीभत्स रस और हिन्दी-साहित्य
(४) हिन्दी-साहित्य में वात्सल्य रस
(५) मानसकार का मनोवैज्ञानिक आधार और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन
(६) हिन्दी-आलोचना के विकास का तुलनात्मक अध्ययन
(७) हिन्दी-काव्य में मानव और प्रकृति

(८) हिन्दी-साहित्य में लोक-तत्त्व
(९) हिन्दी-साहित्य और आलोचना में अभिरुचि का विकास
(१०) हिन्दी-साहित्य में ग्राम-जीवन।

उक्त सभी उदाहरणों में शब्दावली अनिश्चित अथवा अस्पष्ट है। पहले, तीसरे, चौथे आठवें और दसवें विषय की शब्दावली में 'अतिव्याप्ति' दोष है। यदि इनमें प्रयुक्त हिन्दी-साहित्य का अर्थ 'हिन्दी-कविता' लें तो शब्दावली में अस्पष्टता या अनिश्चितता दोष उत्पन्न हो जायेगा। पाँचवें विषय की शब्दावली भी अनिश्चित एवं अस्पष्ट है। 'आनन्दवाद' तो दार्शनिक सिद्धान्त है और कामायनी एक ग्रन्थ है। सिद्धान्त और ग्रन्थ की तुलना कैसी? तुलना तो सम-धर्मी वस्तुओं की ही हो सकती है। छठे विषय में भी अस्पष्टता दोष है। तुलना किसमें किसकी की जाये यह बात यहाँ बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार सातवें विषय की शब्दावली भी स्पष्ट नहीं है। 'मानव और प्रकृति' का संबंध अभिप्रेत है अथवा "मानव और प्रकृति" पृथक रूप में विवेचनीय है? इस प्रश्न का उत्तर विषय की शब्दावली से नहीं मिलता। नवें विषय की शब्दावली में भी अस्पष्टता दोष है। हिन्दी साहित्य और आलोचना में अभिरुचि की खोज की जाये अथवा 'हिन्दी साहित्य' और 'आलोचना में अभिरुचि' का संबंध खोजा जाये। पहला अर्थ लेने से 'भाव कुछ बोझिल हो जाता है और दूसरा अर्थ लेने से 'हिन्दी-साहित्य' पद अस्पष्ट रहता है। इसी प्रकार दसवाँ विषय अतिव्याप्ति दोष से पीड़ित है। कभी-कभी शब्दावली स्पष्ट होने पर भी विषय का क्षेत्र अस्पष्ट ही रहता है। इसका उदाहरण 'हिन्दी में भक्ति रस' का विवेचन है। यहाँ भाषा स्पष्ट है, किन्तु क्षेत्र स्पष्ट नहीं है। शोध-विषय में ऐसी अस्पष्टता नहीं रहनी चाहिये।

विषय से निष्कर्षों का संबंध रहता है। जहाँ विषय ही अस्पष्ट होता है, वहाँ निष्कर्ष अनुपयुक्तता के अभिप्राय के अनुरूप होते हैं। पाठक कुछ और सोचता है और अनुसंधाता कुछ और प्रस्तुत करता है। विषय की परीक्षा के समय इस स्थिति को नहीं आने देना चाहिये।

कुछ शोध-प्रबन्धों में विषय से संबंधित दोष का परिमार्जन 'भूमिका' में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि शोधार्थी विषय की अस्पष्टता से परिचित है, इसीलिये उसे इस प्रकार से सफाई देने की आवश्यकता हुई है। सम्भवतः इसका कारण यही होता है कि विषय के नामकरण के संशोधन से संबंधित विश्वविद्यालयीय औपचारिक कठिनाइयों से वह बचना चाहता है, इसलिये विषय के नामकरण को अन्तिम स्वीकृति देने से पूर्व उसकी शब्दावली की सम्यक् परीक्षा कर ली जानी चाहिए।

परीक्षा की इस बहुमुखी कसौटी के आधार पर ही अनुसंधित्सु को अपने विषय के संबंध में निर्णय लेना चाहिये। निर्णय के समय किसी संदेह या भ्रम को अवकाश

नहीं मिलना चाहिये। अन्तिम निर्णय स्वतन्त्र होना चाहिये। फिर भी अपनी कसौटी पर विषय को कसके निर्देशक के साथ उसके संबंध में विचार-विनिमय कर लेना अच्छा होता है। किसी पहलू विशेष पर उसका परामर्श भी कभी-कभी बहुत उपयोगी होता है और विषय की स्वीकृति भी उसी की अनुशंसा से सम्बन्ध रखती है।

नामकरण

विषय-चयन के संबंध में निर्णय लेते समय विषय के नामकरण के महत्व को नहीं भुला देना चाहिये। विषय शोध-कृति का बीज होता है। अतएव विषय का नाम सार्थक होना चाहिये।)

विषय-चयन और सफलता

संक्षेप में यह कहा जा सकता है (कि विषय शोध का मूल बीज है। वह हमारे प्रयत्नों का प्रारूप और लक्ष्य का सूचक होता है। सारी शोध-कृति इसी पर आधृत होकर आगे बढ़ती है। कभी-कभी गलत विषय लेकर अनुसन्धित्सु बड़ी भूल कर बैठते हैं। गलत विषय से तात्पर्य ऐसे विषय से है जो या तो अनिश्चित होता है या शोधक की रुचि अथवा योग्यता के प्रतिकूल होता है। उस विषय को भी गलत विषय कह सकते हैं जिसमें अनुसन्धेयता का अभाव है। अनुसंधान की प्रकृति केवल तथ्यों की गवेषणा ही नहीं है वरन् उनकी व्यवस्था और निष्कर्षात्मक व्याख्या भी है। जिस विषय में तथ्य-व्यवस्था के लिये अवकाश नहीं होता वहाँ तथ्यों को भटकना पड़ता है और कितनी ही व्याख्या होने पर कोई निष्कर्ष-समन्विति रुककर ही होती है। इसलिये विषय-चयन शोधक की एक बहुत बड़ी योग्यता से सम्बन्ध रखता है। जहाँ शोधक विषय के संबंध में बहक जाता है वहाँ उसे अपने कार्य-क्षेत्र में भ्रान्त की भाँति भटकना पड़ता है।

यह आवश्यक है कि विषय के चुनने में गवेषक को बड़ी सतर्कता से काम लेना चाहिये। कुछ शोधार्थी शोधक अपने में कुमार मैं इतने उतावले हो जाते हैं कि उन्हें अपने नाम के पंजीकरण के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं है। ऐसे शोधार्थी स्वयं तो परेशान होते ही हैं, साथ ही अपने निर्देशक को भी परेशान करते हैं। विषय-चयन करने में जल्दी बुद्धि से काम लेना उचित नहीं है।

विषय-स्रोत

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विषय-चयन शोध-कार्य का बीज है। जिस प्रकार किसान या माली अच्छे बीज के बिना अपने श्रम को सफल नहीं देख सकता उसी प्रकार शोधक अच्छे समर्थ एवं उपयुक्त विषय के बिना अच्छी 'थीसिस' नहीं लिख सकता। अच्छे विषय इधर-उधर-सर्वत्र पड़े नहीं मिल जाते उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, बड़ी तत्परता से खोज करनी पड़ती है। तब कहीं कोई अच्छा विषय हाथ लग

जाता है। कभी-कभी किसी विद्वान् के मुख से भी विषय अनायास ही निकल पड़ता है, अतएव अनुसन्धान कार्य से सम्बन्धित विद्वानों से बात करते समय अनुसन्धित्सुओं को बहुत सजग रहना चाहिये। उनके किसी व्याख्यान या वार्तालाप को बड़ी सतर्कता से सुनना चाहिये और संकेत की शक्ति या सामर्थ्य की परीक्षा अध्यापकों से प्राप्त सामग्री के आधार पर करनी चाहिये। विषय की प्राप्ति किसी लेख या ग्रन्थ को पढ़कर भी हो जाती है। इसके अवलोकन में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये क्योंकि न जाने किस स्थान पर कौनसा विषय चुपचाप पड़ा हो।

विषय खोजने में समय लगाना चाहिये उसके लिये अध्यवसाय करना चाहिये क्योंकि सत्कार्य प्रायः श्रम से ही सिद्ध होता है। कभी-कभी अनुश्रम से भी अनायास ही कोई-कोई कार्य सम्पन्न हो जाता है, कोई अच्छा विषय मिल जाता है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है और वह किसी विरले ही अनुसन्धित्सु का सौभाग्य होता है। ऐसे सौभाग्य की प्रतीक्षा सजग अनुसन्धित्सु कभी नहीं करता है। एक-दो दिन का अध्ययन भी किसी अच्छे विषय को संकेतित कर सकता है, किन्तु यदि विषय की खोज में कुछ महीने भी लग जायें तो उससे घबराना नहीं चाहिये। (विषय एक बार चुना जाता है वह एक ऐसी नींव है। जिसके ऊपर पूरे शोध-कार्य का भवन निर्मित होता है। यह नींव बड़ी दृढ़ होनी चाहिये और उसके डालने में उसको तैयार करने में जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिये। जो लोग विषय-चयन में जल्दबाजी से काम लेते हैं उन्हें कितनी ही बार पछताना पड़ता है। अनेक परिवर्तनों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसलिये जल्दबाजी करके अस्पष्ट, असीमित अपूर्ण अनिश्चयात्मक अथवा अतिसंकुचित विषय लेकर भविष्यत् दुष्परता को आमन्त्रित नहीं करना चाहिये।

प्रायः ये अनुसन्धित्सु अपने निर्देशक से विषय पूछते हैं और कई बार निर्देशक ही उनको विषय प्रस्तावित कर देता है, किन्तु अन्वेषण और प्रस्ताव का इतना सरल मिलन अधिक समीचीन नहीं है। पहले तो शोधार्थी को निर्देशक के पास उससे विषय पूछने के लिए नहीं जाना चाहिये वरन् कुछ विषय अपनी ओर से तैयार करके ले जाने चाहिये और उनके सम्बन्ध में निर्देशक से परामर्श करना चाहिये। इस प्रकार मिला हुआ विषय प्रायः सोचा हुआ विषय होता है। उसमें शोधार्थी की रुचि का प्राधान्य रहता है। इसलिये उसके प्रति उसकी आस्था और तुष्टि बनी रहती है किन्तु जो विषय निर्देशक से लिया जाता है वह कितनी ही बार इन गुणों से वंचित रहता है। इसलिये उसके प्रति शोधार्थी की सहज रुचि भी नहीं रहती। हम अपने किसी कार्य से चाहे कितने ही समर्थ हों मनोवैज्ञानिक भूमि का निराकरण नहीं कर सकते। सहज रुचि अनुसंधाता की योग्यता की मनोवैज्ञानिक पीठिका तैयार करती है। इसलिये निर्देशक को भी इसकी उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिए। निर्देशित विषय के सम्बन्ध में भी शोधार्थी को रुचि की मर्यादा कम

पूर्वक करनी चाहिये। इससे एक बड़ा लाभ यह होता है कि अन्तिम निर्णय से पूर्व ही विषय के संबंध में शोधार्थी की अवगति हो जाती है, जो शोध-कार्य में आगे चलकर बड़ी सहायक होती है। शोधार्थी को हर छोटी सी बात के लिये निर्देशक के पास नहीं भागना पड़ता। विषय-संबंधी पृष्ठ-भूमि के आधार पर वह अपनी छोटी-मोटी कठिनाइयों को स्वयं हल कर सकता है। इससे अपने आप में उसका विश्वास जमता है और उत्साह की वृद्धि होती है। शोध की दृष्टि से इन दोनों की मनोवैज्ञानिक दशा भी शोध के लिये परम आवश्यक है।

अनुसन्धित्सु को चाहिये कि वह अनेक ऐसे विषयों पर जिन पर काम हो चुका है या हो रहा है बड़े मनोयोग से दृष्टिपात करे। उनके संबंध में अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण से काम ले और उनके गुण-दोषों से अवगत होने का प्रयत्न करे, जिससे शोधार्थी के विषय में भी वैसा ही दोष न आने पावे। विषय की प्राप्ति के लिये पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का अवलोकन तो अपेक्षित होता ही है विद्वत्-परामर्श भी वाञ्छनीय है। जैसे ही कोई विषय शोधार्थी के मस्तिष्क में प्रविष्ट हो तत्काल ही उसे यह सोचना चाहिये कि क्या वह उसकी रुचि के अनुरूप है? यदि उसकी सहज रुचि उसे स्वीकार करने तो उसके संबंध में पर्याप्त चिन्तन और मनन करना चाहिये जो किसी भी प्रकार से परतन्त्र या अस्वस्थ न हो। इससे विषय के अनेक स्थूल पहलू शोधार्थी के समक्ष आ सकते हैं और प्रत्येक पहलू को वह अपनी पूर्वावगति एवं आलोचना-शक्ति के सहारे से निरख-परख कर उसकी योजना का परीक्षण एवं निर्धारण कर सकता है। अपने विषय को अनेक अन्य विषयों की तुलना में रखकर देखना भी शोधार्थी का कर्तव्य है किन्तु वह उसको ऐसे विषयों की तुलना में ही रखकर देखे जिन पर किसी अन्वेषक या लेखक के महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये जा चुके हों। इसके अतिरिक्त विषय का चयन करते समय शोधार्थी को चाहिये कि वह उसे अपनी शक्ति और क्षमता के परिप्रेक्ष्य में भी देख ले। इस प्रकार से निर्धारित विषय भावी-परिवर्तन और कठिनाई के लिये कम अवकाश छोड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि विषय के संबंध में अन्तिम निर्णय निर्देशक का होता है और होना भी चाहिये क्योंकि उसका अनुभव विषय के निर्धारण में बड़े महत्त्व का होता है, किन्तु निर्देशक को अपना निर्णय बहुत सोच-समझ कर देना चाहिये और शोधार्थी को निर्देशक के साथ अच्छी तरह विचार-विनिमय करके—अपने निर्देशक के तर्कों को बड़े ध्यान और विश्वास से सुनकर और अपने स्वस्थ तर्कों को उनके सामने बड़े आत्मविश्वास से रख कर स्वीकार करना चाहिये।

अन्तिम निर्णय लेते समय विषय के संबंध में उसकी उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिये। उपयुक्तता का संबंध शोधक की रुचि और क्षमता से ही नहीं है वरन् उपाधि विशेष से भी है जो विषय चुना जा रहा है वह पी एच. डी. के लिये है अथवा डी. लिट

के लिए, इस संबंध में भी शोधक को सतर्क रहना चाहिए। डी. लिट. की उपाधि के लिए चुने गये विषय में पी एच. डी. के विषय से अधिक गम्भीरता के लिये अवकाश होना चाहिये क्योंकि प्रथम में बौद्धिक प्रौढ़ता और वैचारिक मौलिकता की जितनी अपेक्षा होती है उतनी दूसरी में नहीं। पी एच डी की उपाधि के लिए जो विषय चुना जाये उसे तथ्यानुसंधान के लिये ही विशेष अवकाश होना चाहिये क्योंकि उसमें सामग्री-संकलन तथ्यानुशीलन और तथ्यभाव की अपेक्षा ही विशेष रूप से होती है। तथ्यों और सिद्धांतों का अन्वेषण प्राय डी.लिट. के लिए ही अपेक्षित समझा जाता है। विषय-निर्वाचन के समय निर्वाचक को यह ध्यान रखना चाहिये कि उसके विषय की शब्दावली में अस्पष्टता न रहने पाये। विषय का स्वरूप और क्षेत्र स्पष्ट होना चाहिये। उसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति या किसी संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिये। विषय-क्षेत्र 'अति-व्याप्ति' मुक्त होना चाहिये। शब्दावली में ही अनुसन्धान की दृष्टि परिलक्षित होनी चाहिये।

विषय-चयन से सम्बन्धित यह विवेचन निष्कर्ष रूप में दो मूल बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) विषय-चयन की पद्धति तथा (२) विषय की योग्यता। पहले बिन्दु के अन्तर्गत मूल रूप में यह विचार करना चाहिये कि विषय कैसे चुना जाये? अनेक विषयों को देख कर या सुनकर, अनेक पत्र-पत्रिकाओं या पुस्तकों का अवलोकन करके विद्वानों से परामर्श या विचार-विनिमय करके अपनी रुचि को पुष्ट करके स्वस्थ एवं स्वस्थ मन के माध्यम से विषय के सूक्ष्म पहलुओं को देखकर तथा अपने विषय को अनेक विषयों की तुलना में तौलकर ही विषय का चयन करना चाहिये।

दूसरा बिन्दु विषय की योग्यता से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत विषय की शब्दावली से लेकर उसकी उपयुक्तता तक विचार किया जाना चाहिये। 'विषय' का नाम यथासम्भव संक्षिप्त होना चाहिये। नामावली में निश्चितता होनी चाहिये और वह 'अतिव्याप्ति' या अव्याप्ति दोष से मुक्त होनी चाहिये। उसमें शाब्दिक एवं सैद्धान्तिक अस्पष्टता नहीं होनी चाहिये। विषय मौलिक होना चाहिये तथा उसमें पुनरावृत्ति के लिए कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिये। विषय की कुछ मर्यादाएं होती हैं, अतएव चुने हुए विषय में उनकी रक्षा होनी चाहिये और मर्यादा-रक्षा की सम्भावनाएं स्पष्ट होनी चाहिये। विषय का साहित्यिक होना भी साहित्यिक विषय की मर्यादा का पालन है। साहित्य-लोक में विषय की उपयुक्तता सिद्ध होना अनिवार्य है। इसमें भी पहले विषय की उपयोगिता आवश्यक है जो उनकी मर्यादाओं में से एक है।

3 शोध-योजना

योजना

योजना में अपने भावी कार्य का एक रूप-चित्र होता है। इसको अंग्रेजी में 'प्लान' या 'स्कीम' कहते हैं। इससे कार्य में व्यवस्था सुचारुता एवं आस्था आ जाती है। इससे भटकना नहीं पड़ता क्योंकि भावी कार्य का स्थूल मान-चित्र हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है और लक्ष्य का मार्ग सामने आ जाता है। ऐसी बात नहीं है कि योजना में कभी परिवर्तन नहीं होता प्रत्युत परिस्थितियों और अनुभवों के प्रकाश में योजना में परिवर्तन कर लेना हितकर ही होता है।

योजना-विषयक चार बिन्दु

शोधार्थी के सामने कई बिन्दु हो सकते हैं। उनमें से प्रमुख चार हैं—धन समय रूप-रेखा तथा कार्य-क्रम। ऐसे बहुत कम शोधार्थी होंगे जिनके सामने इन चारों में से कोई भी समस्या न हो। अधिकांश शोधार्थियों को विकट आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अन्य समस्याएं भी उनका (आर्थिक समस्याओं का) साथ दे देती हैं। जिस उमंग से शोधार्थी अपनी परिस्थितियों को भूलकर अथवा भावी समस्याओं पर ध्यान न करके शोध-समर में कूद पड़ता है वह परिस्थितियों के चंगुल में काफूर हो जाती है और परास्त होकर उसे मैदान छोड़ कर भाग जाना पड़ता है।

शोधार्थी का यह आचरण अविवेकजन्य होता है। शोधार्थी की उमंग को इसलिए परास्त होना पड़ता है कि वह परिस्थितियों का पूर्वावलोकन या पूर्वानुमान नहीं करता। मैं समझता हूँ कि छोटे से काम का पूर्वायोजन हितकर होता है। इसी को दूरदर्शिता कहते हैं। दूरदर्शिता का प्रमुख ध्येय भविष्य होता है। यह पूर्वानुभव के आधार पर भविष्यत् कर्म को वर्तमान में ही प्रत्यक्ष कर देती है। कभी-कभी दूरदर्शी व्यक्ति को भी परिवर्तित परिस्थितियों में होकर गुजरना पड़ता है किन्तु उसे अपने आचरण के लिए पछताना नहीं पड़ता। दूरदर्शी शोधार्थी भी भविष्य की चिन्ता से उत्पीड़ित नहीं होता किन्तु भविष्य की कल्पना करके एक मार्ग

पकड़ लेता है जिससे वह भविष्य के तिमिराच्छन्न में बड़ी मुश्किल बड़ी इच्छा से प्रविष्ट होता है। इस दूरदर्शिता का प्रभाव उसकी शक्ति पर ही नहीं कृति पर भी पड़ता है।

इसलिए शोधार्थी को अपने भविष्यत् कार्य-क्रम को एक योजना में बांध लेना चाहिये और यथासंभव उसके अनुरूप आचरण करना चाहिये। भारतीय शोधार्थियों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या आर्थिक होती है। दूसरों शोधार्थी को किसी के फुसलाने बहकाने, या उकसाने से जल्दी में आकर कोई ऐसा काम आरंभ नहीं कर देना चाहिये जिससे उसका श्रम व्यर्थ हो। रिसर्च या शोधकार्य सामान्यतः कोई हौवा नहीं है। उससे भीत होने की कोई बात नहीं है, किन्तु उसका प्रारंभ करने से पूर्व अपनी रुचि और क्षमता के निर्धारण के पश्चात् उसे अपनी आर्थिक परिस्थितियों का अवलोकन अवश्य कर लेना चाहिये।

अर्थ या धन

शोध-कार्य श्रम-साध्य ही नहीं व्यय-साध्य भी है। जब तक व्यय की व्यवस्था या योजना न बन जाये तब तक सहसा कोई कदम नहीं उठा लेना चाहिये। जिन लोगों के सामने अर्थ किसी समस्या को प्रस्तुत नहीं करता है, वे वस्तुतः भाग्यशाली हैं, अन्यथा सामान्य भारतीय परिवारों की आर्थिक समस्याएं बड़ी विचित्र एवं विकट होती हैं। एक के अर्जन से अनेक की आजीविका चलती है। शोधार्थी प्रायः अपने परिवार का एक जिम्मेदार व्यक्ति होता है। वह आर्थिक समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसलिए उसे अर्थ के संबंध में कोई प्रबन्ध अवश्य कर लेना चाहिये। जो किसी प्रकार भी अर्जन कर रहे हैं उनकी बात छोड़िये। इतर शोधार्थियों को जो सक्षम नहीं हैं छात्रवृत्ति सरकारी ऋण आदि किसी रूप में अर्थ-प्रबन्ध कर लेना चाहिये। अधिकांश शोधार्थी ट्यूशनों पर निर्भर रहते हैं। कभी-कभी तो अच्छे परिवारों में ट्यूशन मिल जाने से उनकी आर्थिक समस्या हल हो जाती है, किन्तु अधिकांशतः ऐसे ट्यूशन नहीं मिलते और परिणामतः ट्यूटर को परेशानी होती है, जिससे उसका शोध-कार्य बाधित हुए बिना नहीं रहता।

भारतीय शोधार्थी के लिए आर्थिक संकट एक भीषण संकट होता है और उससे मुक्त हो जाना उसकी एक भारी सिद्धि होती है। अर्थ-संकट उसके मानसिक संतुलन को बिगाड़ कर उसके उत्साह को क्षीण करता है, जिसका दुष्प्रभाव उसके कार्य-क्रम और कार्य-स्तर पर भी पड़े बिना नहीं रहता और श्रम तथा समय का सदुपयोग भी नहीं हो पाता। सामान्यतः ऐसी परिस्थिति की कल्पना दुष्कर नहीं होनी चाहिये और शोध की दिशा में समझ-सोचकर ही पदार्पण करना चाहिये।

यहाँ मेरा अभिप्राय शोधार्थी को हतोत्साह करना नहीं है किन्तु उसको ऐसी परिस्थितियों की संभावना से अवगत कराना है जिससे वह देख-भाल कर शोध की दिशा ग्रहण करे। इस ओर सोच-समझ कर आये और कमर बांधकर आये। जिसके पग रुक नहीं

होता। ऐसे शोधार्थी भी शोध-कार्य करते ही हैं किन्तु वे कमर कस कर आते हैं, कोई योजना बनाकर आते हैं जिससे वे अर्थ-संकट की वैतरणी से पार उतरने में सफल होते हैं।

समय

ऐसे शोधार्थी जो जैसे-तैसे अर्थ-व्यवस्था कर लेते हैं, प्रायः समय के लिये तरसते हैं अथवा ऐसे लोग जो शोध के प्रांगण में आकर भी शोध-कार्य की गुरुता को भलीभाँति नहीं समझ पाते हैं प्रमाद से समय को खोते हैं। जिनके पास समय है—चाहे वह थोड़ा हो या बहुत हो उन्हें उसका सदुपयोग ही करना चाहिये। समय-योजना समय के सदुपयोग का सरलतम साधन है। पुस्तकालयों में जाने, निर्देशक से परामर्श लेने, स्वाध्याय करने तथा लिखने का सुयोजित समय-क्रम होना चाहिये। इतना ही नहीं भोजन खेल निद्रा नित्यकर्म आदि के लिए भी एक योजना होनी चाहिये। इससे समय नष्ट नहीं होता और कार्य सुष्ठुरूप से सम्पन्न होता चला जाता है।

कार्य-क्रम

समय के साथ कार्य-योजना का भी संबंध है। दस-पाँच दिन काम करने के पश्चात् शोधार्थी अपनी दैनिक कार्य-शक्ति का अनुमान लगा सकता है। उसी के अनुरूप रूपरेखा के परिवेश में कार्य-गति को नियत कर लेना चाहिये। पाक्षिक या मासिक कार्य की योजना बनाना बहुत दुष्कर नहीं है। यदि अनुमानित कार्य एक पक्ष या एक मास में पूर्ण न हो सके और थोड़ा-बहुत दूसरे पक्ष या मास के लिए बच रहे तो भी कोई हानि नहीं है। दूसरे पक्ष या मास में कार्य-गति थोड़ी तीव्र कर देनी चाहिये। इस प्रकार दो पक्ष या मास का कार्य अपनी अवधि में ही पूरा हो सकता है। रूप-रेखा के अनुरूप पूरे प्रबन्ध के लिए भी समय निर्धारित कर लेना चाहिये। इस योजना में समय का थोड़ा-बहुत व्यतिक्रम हो सकता है किन्तु बहुत बड़े व्यतिक्रम के लिए गुंजाइश नहीं होनी चाहिये। इस योजना से एक बड़ा लाभ यह होता है कि कार्य-अवधि के आस-पास ही पूरा हो सकता है। प्रायः यह देखा गया है कि कई लोग अपने शोध-कार्य को पाँच वर्ष से भी ऊपर लिये बैठे रहते हैं। यह बुरा है। निर्देशक को चाहिये कि वह शोधार्थी से यथासंभव समय-योजना के अनुसार ही कार्य कराने का प्रयत्न करे। इससे दूसरे शोधार्थियों के लिये भी निर्देशक के पास क्रम-क्रम से स्थान रिक्त होता रहता है और उनको अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसके अतिरिक्त समय-योजना के अनुसार कार्य पूरा करना इसलिए भी आवश्यक है कि दो वर्ष के कार्य को पाँच वर्ष देना बुद्धिमत्ता नहीं है। समय के अधिक व्यतिक्रम से विरोधी परिस्थितियों को बढ़ावा मिलने की बहुत संभावना रहती है। जो मानव-जीवन अधिक दीर्घ नहीं है उसमें से पाँच या छै वर्ष इस प्रकार निकाल देना जीवन के साथ खिलवाड़ करना है।

रूप-रेखा

कोई भी योजना शोध-प्रबन्ध से संबंधित है। उसके संदर्भ में बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। जिस प्रकार बिम्ब में शोध-कार्य का बीज निहित होता है, उसी प्रकार रूप-रेखा में उसका स्थूल आकार निहित होता है। यह एक ऐसा अस्थि-पंजर होता है जिसे शोध-प्रबन्ध के रूप में मांसवान् किया जाता है। जो अन्तर रेखा-चित्र और वर्ण-चित्र में होता है वही रूप-रेखा और शोध प्रबन्ध में होता है। रूप-रेखा से शोध-प्रबन्ध के अन्दर-बाहर का संक्षिप्त ज्ञान हो सकता है।

रूप-रेखा की आवश्यकता

रूप-रेखा अनुसंधित्सु तथा पाठक दोनों के लिए महत्वपूर्ण होती है। इसको प्रबन्ध की योजना भी कहते हैं। अथवा कहा गया है कि अंग्रेजी में इसको 'आउटलाइन्स' 'स्कीम' या 'प्लान' भी कहते हैं। योजना किसी कार्य को सुन्दर बना देती है। उससे कार्यका क्रम बनता है एवं क्रम उपयुक्त स्थान पर रखकर व्यर्थता से मुक्त होता है। योजना कार्यको सौष्ठव प्रदान करती है। एक क्रम से होने वाला कार्य विकसित होकर सफलता से सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। योजना-हीन कार्य की सम्पूर्णता संदिग्ध रहती है। 'योजना और तत्परता' कार्य-यज्ञ की पूर्णाहुति के मूल मंत्र हैं। किसी व्यक्ति, समाज अथवा कार्य के विकास के लिए योजना बहुत आवश्यक है। शोध-प्रबन्ध में योजना की आवश्यकता और भी अधिक है। शोध-प्रबन्धों की योजना का लक्ष्य भी कार्य की सुरक्षा सुगमता क्रमबद्धता एवं अपेक्षित सम्पूर्णता है। लेखक के लिए ही नहीं योजना पाठक के लिए भी बहुत उपयोगी होती है।

शोध-प्रबन्ध का फल न केवल अनुसंधाता को मिलता है, वरन् उसका आस्वादन या उपभोग समाज भी करता है। एक अनुसंधाता के श्रम-फल के उपभोग से दूसरों को प्रेरणा-शक्ति मिलती है। कभी-कभी किसी शोधार्थी के पास समय न होने से वह अपने पूर्ववर्ती अनुसंधाता के शोध-प्रबन्ध को केवल रूप-रेखा में देख कर ही लाभान्वित हो जाता है। फिर आवश्यकता होने पर विशेष स्थलों पर उसका अध्ययन करके संदर्भ-सहायता प्राप्त कर लेता है। रूप-रेखा के इस लाभ को लेखक भुला नहीं सकता क्योंकि शोध-प्रबन्ध उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति होते हुए भी सामाजिक ज्ञान का अनुप्रेरक होता है। यदि एक व्यक्ति दूसरों से सुविधाओं की कामना करता है तो उसे दूसरों के लिए भी अपने कार्य से सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिये। इस दृष्टि से शोध-कृति को आवश्यक प्रदान करना उसमें रूप-रेखा सन्निहित करना शोधक के लिए हितकर ही नहीं अपितु कर्तव्य भी है।

रूप-रेखा की प्रक्रिया

जिस प्रकार विषय-चयन शोध-कार्य की प्रारम्भिक दशा है उसी प्रकार रूप-रेखा भी। चित्रकार पैंसिल की आड़ी-टेढ़ी रेखाओं से चित्र बनाकर फिर उसे रंगों से विभूषित करता

है उसी प्रकार लेखक भी अपने ग्रन्थ में अपनी योजना की रूप-रेखाओं को वस्तु-व्यवस्था से विभूषित करता है। प्रबन्ध-योजना विषय-चयन से भी अधिक कठिन कार्य है।

इसमें विषय की परिधि को ध्यान में रखकर पूर्वापरगति से विशेष सहायता लेनी पड़ती है। रूप-रेखा के निर्माण में अनुमानों और सम्भावनाओं से प्रायः न-अल्प सहायता ली जानी चाहिये और प्रगति के आधार पर वस्तु-व्यवस्था करनी चाहिये। रूप-रेखा में तथ्यों के संकेतों को व्यवस्था-क्रम में आबद्ध किया जाता है। यहाँ तथ्याख्यान की विशेष आवश्यकता नहीं होती। रूप-रेखा में तथ्यों की संघटना को विशेष महत्त्व मिलना चाहिये अन्यथा सामूहिक निष्कर्ष में सत्य की एकता अप्रतिष्ठित हो सकती है। इससे शोध-लक्ष्य के भ्रंश की संभावना हो सकती है।

रूप-रेखा के निर्माण में केवल अनुकरण से काम नहीं चलता। एक प्रबन्ध की रूप-रेखा दूसरे की योजना में सहायक हो सकती है। अतएव उसका अनुकरण करना न तो उचित है और न संभव ही है। एक विषय दूसरे से अपनी मौलिक भिन्नता रखता है, अतएव दोनों की रूप-रेखाओं में भी भिन्नता का आना स्वाभाविक है। जो शोधार्थी विषय की रूप-रेखा की प्रकृति को नहीं देख पाते वे अक्ल को ताक में रख कर नकल पर उतारू हो जाते हैं। प्रबन्ध में आने वाली मौलिकता की संभावनाओं का ह्रास हो जाता है।

'राम-कथा' के अनुकरण पर एक सज्जन ने अपने शोध का विषय 'कृष्ण-कथा' लेकर न केवल विषय के क्षेत्र में अनुकरण किया है वरन् रूप-रेखा के निर्माण में भी। उन्होंने यह नहीं देखा कि यह किस भाषा के साहित्य से सम्बन्धित है और उपाधि किस विभाग से संबन्धित होगी। हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत मिलने वाली उपाधि के लिए हिन्दी-साहित्य या हिन्दी-भाषा के क्षेत्र में ही विषय का सीमित होना आवश्यक है। यदि यह विषय हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है तो इसमें व्याप्ति-दोष* स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त दोनों विषय अपनी-अपनी मौलिक भिन्नता रखते हैं। दोनों का मौलिक अन्तर, दोनों का साहित्य क्षेत्र और लोक-परिपार्श्व भिन्न होने से उनकी रूप-रेखा में एकत्व के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। फिर भी 'कृष्ण-कथा' को 'रामकथा' के बाट उतारने का प्रयत्न किया गया है जिससे मौलिक तत्त्व में दब गया है। रूप-रेखा के निर्माण में ऐसे प्रयत्न वर्जनीय हैं।

जिस प्रकार विषय का मौलिक एवं नवीन होना वांछनीय है उसी प्रकार रूप-रेखा का भी (वस्तुतः विषय से भी अधिक रूप-रेखा का मौलिक होना अनिवार्य है। किसी भी पुराने विषय पर नये ढंग से विचार किया जा सकता है। रूप-रेखा से विषय के

* यहाँ 'व्याप्ति दोष' से तात्पर्य अतिव्याप्ति से है।

संबंध में मानसिक सम्भावनाओं का परिचय मिलता है। उससे शोधार्थी के चिन्तन के विस्तार या परिसीमा की सूचना प्राप्त होती है।

रूप-रेखा बनाने में शोधार्थी को अपनी बुद्धि लगानी चाहिये क्योंकि किसी दूसरे के द्वारा बनाई हुई रूप-रेखा उसको दूर तक सहायता नहीं देगी। मौलिक एवं स्वतन्त्र रूप-रेखा के पीछे रूप-रेखाकार के अपने विचारों की पीठिका निहित होती है। अतएव किसी भी विचार-बिन्दु के विस्तार में उसे अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता किन्तु जो रूप-रेखा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा (या किसी की सहायता से) तैयार की जाती है उसके विकास या विस्तार में प्रबन्धकार कभी-कभी गहरे दलदल में फँस सकता है।

विचार-बिन्दुओं का संकलन और वर्गीकरण

विषय के संबंध में अन्तिम निर्णय के लिए उसकी परीक्षा करते समय ही शोधार्थी को कुछ विचार-बिन्दु संकलित करते जाना चाहिये। रूप-रेखा के निर्माण में उनका सदुपयोग किया जा सकता है। विषय निर्धारित करने के बाद रूप-रेखा तैयार करने के प्रयोजन से भी अध्ययन आवश्यक होता है किन्तु हल्का-फुल्का। पढ़ते या विचारते समय जो विचार-बिन्दु बुद्धि में प्रकाशित हों उनका संकलन कर लेना चाहिये। जब उनकी मात्रा पर्याप्त समझी जाये तब उनको बड़ी सावधानी से वर्गों में व्यवस्थित करना चाहिये। प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधि कोई एक स्थूल विचार-बिन्दु होना चाहिये। उसी के अन्तर्गत मिलते-जुलते विचार-बिन्दुओं को रख लेना चाहिये। फिर वर्गों की क्रम-व्यवस्था पर भी विचार कर लेना चाहिये। ध्यान रखने की बात है कि एक वर्ग दूसरे से सम्बन्धित रहे। इस वर्गीकरण से प्रबन्ध की एक रूपता का निर्वाह होता है। प्रत्येक स्थूल वर्ग को अध्याय-विभाग का नाम दिया जा सकता है।

मूल प्रबन्ध उपसंहार और परिशिष्ट

प्रत्येक वर्ग के साथ निष्कर्ष-सम्बन्धी विचार-बिन्दु संयुक्त रहने चाहिये और उपसंहार के अन्तिम वर्ग में निष्कर्षों का समाहार होना चाहिये। जब मूल प्रबन्ध से संबंधित विचार-बिन्दुओं का वर्गीकरण समाप्त हो जाये तो यह विचार करना चाहिये कि कोई बात ऐसी तो नहीं रह गई है जो वास्तव में मूल प्रबन्ध में देने योग्य तो नहीं है, —किन्तु— उसकी सूचना देना आवश्यक है। ऐसी सूचना को परिशिष्ट में दिया जा सकता है। परिशिष्ट में ऐसी अनेक सूचनाएँ भी दी जा सकती हैं।

भूमिका

इसके पश्चात् रूप-रेखा का वह भाग आता है जिसे भूमिका कहते हैं। भूमिका का तात्पर्य प्रबन्ध से सम्बन्धित ऐसे व्याख्यान से है जो पाठक को मूल प्रबन्ध तक पहुँचाने में सहायक होता है। भूमिका वह सीढ़ी है जो विषय को उसके क्षेत्र में पहुँचा कर

समाप्त हो जाती है। भूमिका मूल विषय की अवधारणा नहीं अवधारणा की तैयारी होती है। भूमिका की सहायता विषय-क्षेत्र तक आने के लिए ही लेनी चाहिये। विषय-क्षेत्र में भूमिका का कोई भी पद-प्रवेश उसकी अनधिकार चेष्टा समझना चाहिये। भूमिका के किसी भी स्तर पर ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिये कि विषय में प्रवेश हो चुका है। कुछ विद्वान् भूमिका को अति महत्त्व देकर उसे प्रबंध के प्रथम अध्याय के रूप में स्वीकार करते हैं, वस्तुतः भूमिका से प्रबन्ध का द्वार प्राप्त होना चाहिये। वह प्रबन्ध गृह में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

रूप-रेखा में भूमिका का स्थान

रूप-रेखा में समय की दृष्टि से भूमिका का स्थान कौनसा होना चाहिये यह एक विचारणीय प्रश्न है। कुछ विद्वानों की राय है कि भूमिका-सम्बन्धी विचार-बिन्दु सबसे पहले लिखने चाहिये। मेरी मान्यता यह है कि मूल विषय की रूप-रेखा तैयार हो जाने पर भूमिका की रूप-रेखा बननी चाहिये। वास्तव में भूमिका मूल विषय का प्रसार नहीं है एक बाड़ है जो बाद में लगाया जाता है। वैसे तो परिशिष्ट भी प्रबन्ध का एक जोड़ ही होता है किन्तु परिशिष्ट में प्रबंध की अवशिष्ट सूचना दी जाती है और भूमिका में विषय-पूर्व की विशिष्ट सूचना दी जाती है। दोनों का लक्ष्य विषय-प्रतिपादन को पुष्ट एवं प्रौढ़ बनाना है। विषय की विशिष्ट सूचना किस परिधि में दी जानी चाहिये इसका निर्णय मूल विषय के प्रतिपादन के पश्चात् ही किया जा सकता है। प्रतिपादित विषय का परिचय (किसी विशेष अध्याय या कुछ ही अध्यायों का नहीं) देना ही भूमिका का प्रयोजन है। भूमिका और प्रतिपादित विषय का सबंध होना अनिवार्य है। इस संबंध की रक्षा के लिए ही भूमिका की रूप-रेखा का स्थान बाद में आता है। भूमिका की रूप-रेखा पहले तैयार करने पर विषय प्रतिपादन उसके अनुरूप करना उचित नहीं है। अतएव भूमिका की रूप-रेखा मूल योजना के पश्चात् ही बननी चाहिये। इसके पूर्व प्रारम्भ में विषय के स्पष्टीकरण क्षेत्र और सीमाओं को देकर विषय से संबंधित अद्यपर्यन्त सम्पन्न कार्यों की विवरणिका तथा उनकी उपलब्धियों की निष्पत्तिका के साथ प्रस्तुत विषय की उपयोगिता और आवश्यकता पर समुचित प्रकाश डालना चाहिये।

परिशिष्ट के बाद ग्रन्थ-सूची का स्थान है। कुछ साहित्यिक विषयों से संबंधित रूप-रेखा में ग्रन्थ-सूची के दो भाग हो सकते हैं। (१) विवेच्य ग्रन्थ-सूची तथा (२) सहायक ग्रन्थ-सूची। साहित्येतर विषयों से संबंधित रूप-रेखा में इन दो भागों की आवश्यकता नहीं होती। उसमें ग्रन्थ-सूची का सहायक ग्रन्थ-सूची से ही काम चल जाता है। भाषा-विज्ञान से संबंधित विषयों की रूप-रेखा में भी ग्रन्थ-सूची के दो भाग अपेक्षित नहीं होते।

ग्रन्थ-सूची के दूसरे भाग के अन्तर्गत पत्र-पत्रिकाओं के नाम भी समाविष्ट होते हैं क्योंकि उनसे भी शोध-कार्य में बड़ी सहायता मिलती है।

इन सबकी रूप-रेखा तैयार करने पर प्राक्कथन तथा संकेत-सूची भी व संकेत-सूची समग्र रूप-रेखा के बाद में भी दी जा सकती है, किन्तु ग्रन्थ के उप सहायता उसके प्रारम्भ में रहने से ही मिलती है।

रूप रेखा के प्रकार

रूप-रेखा कई प्रकार की होती है। भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति वाले व भिन्न-भिन्न प्रकार की रूप-रेखा बनाते देखे गये हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बहुत क शब्दों में निचोड़ कर प्रस्तुत करने की कला जानते हैं और दूसरे कुछ लोग ऐसे हैं जो छोटी सी बात को विस्तार से प्रस्तुत करते हैं। यह भेद आकार-संबंधी है। दूसरा विचारों के संबंध से हो सकता है।

आकारिक भेद

आकार की दृष्टि से रूप-रेखा दो प्रकार की होती है—(१) संक्षिप्त तथा व्याख्यात्मक या विशद। संक्षिप्त रूप-रेखा में शब्द-प्रयोग बड़े कौशल से किया ज है किन्तु व्याख्यात्मक रूप-रेखा में शब्द-संकेत शक्तिशाली न होने से उनकी व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। कुछ शोधार्थियों को रूप-रेखा में व्याख्या देने का चाव होता है। वस्तुतः वहाँ व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। हाँ कहीं-कहीं शब्दों को स्पष्ट कर देना अनुचित नहीं है।

वैचारिक भेद

रूप-रेखा का संबंध विचारों से भी तो है। इस दृष्टि से भी रूप-रेखा के दो भेद हो जाते हैं—एक तो ऐसी रूप-रेखा होती है जिसमें चिंतन का विस्तार दृष्टिगोचर होता है, दूसरे प्रकार की रूप-रेखा वह होती है जिसमें विचार-गाम्भीर्य लक्षित होता है। इस प्रकार की रूप-रेखा वस्तुतः विषय की प्रकृति के ऊपर भी निर्भर होती है किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध शोधार्थी की प्रकृति से भी होता है। चिन्तन-विस्तार वाली रूप-रेखा तथ्य-बहुल होती है और दूसरे प्रकार की चिंतन-प्रमुख होती है।

रूप-रेखा के ये सभी प्रकार प्रचलित हैं। प्रकार-विशेष की स्वीकृति शोधार्थी की रुचि और प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण किसी विशेष के पक्ष में लेखक का अपना मत केवल मत-भेद पैदा कर सकता है।

रूप रेखा और निर्देशक का परामर्श

रूप-रेखा तैयार कर लेने पर शोधार्थी अपने निर्देशक से भी उसके संबंध में परामर्श कर सकता है। रूप-रेखा में निर्देशक या किसी अन्य विद्वान् की सहायता ले लेना कुछ बुरा नहीं है किन्तु सहायता का तात्पर्य सहायता ही है, अन्यथा नहीं। उसके संबंध में निर्देशक या अन्य विद्वानों से सुझाव लिये जा सकते हैं किन्तु उनके कारण-प्रकारण को भली-भाँति समझ लेना आवश्यक है।

रूप-रेखा और स्थायित्व

शोधार्थी को यह न भुला देना चाहिये कि यह रूप-रेखा स्थायी नहीं होगी। इससे तो केवल सामग्री-संकलन की सीमा निर्धारित हो जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि इस रूप-रेखा को आगे चल कर बदल देना ही चाहिये किन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है कि यह रूप-रेखा अन्त तक बनी रहे। सामग्री-संकलन के समय प्राप्त तथ्यों के प्रकाश में उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो सकता है। शोध-छात्र के रूप में पंजीकरण के लिए कुछ विश्वविद्यालयों में विषय के साथ रूप-रेखा का भेजना अनिवार्य नहीं है। कुछ लोग प्रारम्भिक रूप-रेखा को सिद्धान्ततः अनावश्यक समझते हैं क्योंकि इससे एक प्रकार का पूर्वाग्रह हो सकता है। किसी शोध-प्रबन्ध की प्रारम्भिक रूप-रेखा को अन्तिम समझ लेना भूल है। अन्तिम रूप-रेखा शोध-प्रबन्ध की पूर्णता के साथ तैयार होती है।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शोध-कार्य के लिए योजनाओं का होना आवश्यक है। धन समय कार्य और प्रबन्ध—इन सबके लिए योजना चाहिये क्योंकि योजना से लक्ष्य स्पष्ट और कार्य सुकर हो जाता है। वैसे तो इतर योजनाएँ भी बड़े महत्त्व की होती हैं किन्तु यहाँ विवेच्य योजना रूप-रेखा ही है।

निष्कर्ष

रूप-रेखा शोध-प्रबन्ध की प्राथमिक आवश्यकताओं में से है। इससे व्यस्त विचार संकलित एवं नियत होते हैं और प्रबन्ध की सीमाएं निर्धारित होती हैं। रूप-रेखा विचार-बिन्दुओं में क्रमबद्धता लाने के अतिरिक्त उनके लिए स्थान निर्धारित करती है। इससे कार्य को क्रमिक विकास की सुकरता प्राप्त होती है। सच तो यह है कि रूप-रेखा में सामग्री ही व्यवस्थित नहीं होती वरन् श्रम और समय भी व्यवस्थित हो जाते हैं। रूप-रेखा के परिवेश में विकल विचार आबद्ध होकर सफलता प्राप्त करते हैं, जिससे प्रबन्ध तैयार होता है। अभिव्यक्ति के योजना-बद्ध होने से लक्ष्य को पकड़ भी रूप-रेखा के कारण ही मिलती है। निष्कर्षों को निर्धारित स्थान की प्राप्ति भी रूप-रेखा से ही मिलती है। अतएव प्रबन्ध में रूप-रेखा की उपयोगिता कभी भुलाई नहीं जा सकती।

---

4 | शोध-कार्य-पद्धति

शोध-विषय की रूप-रेखा तैयार हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि कार्य कैसे किया जाये ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। इसमें तो कोई दो मत नहीं है कि कार्य पद्धति में यथासम्भव रूप-रेखा का अनुसरण होता है। रूप रेखा कार्य-पद्धति का मौखिक आधार ही नहीं होती वरन् व्यावहारिक आधार भी होती है। रूप रेखा बनने के पश्चात् ही शोधार्थी को अपने काम में जुटने की प्रेरणा मिलती है।

यह ठीक है कि कुछ विश्वविद्यालयों में विषय के पंजीकरण के अवसर पर रूप रेखा की आवश्यकता नहीं होती किन्तु कार्य को प्रारंभ करने आगे बढ़ने के लिए प्रत्येक शोधार्थी को इसकी आवश्यकता प्रतीत होती है। रूप-रेखा (प्रारंभिक रूप-रेखा) प्रशस्त पथ एक निश्चित मार्ग भले ही न हो, किन्तु उसके आधार पर निश्चित मार्ग बन सकता है। उससे एक दिशा की सूचना मिलती है। अतएव रूप-रेखा बनने पर ही काम प्रारंभ होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि शोध-विषय को फैलाने के लिए तथ्य-संकलन अनिवार्य है, जो अध्ययन-सापेक्ष होता है। तथ्य-संग्रह और सामग्री-संकलन दो भिन्न बातें होती हुई भी एक ही दिशा—एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करने वाली चीजें हैं। सभी संकलित सामग्री तथ्य-गर्भित होती है, यह बात नहीं है। सामग्री तो अनेक दृष्टि-कोणों से संकलित की जाती है। स्वयं में तथ्य-संकलन भी एक है। सामग्री-संकलन के साथ तथ्य संकलन स्वतः ही हो जाता है। सामग्री-संकलन के निमित्त अध्ययन अनिवार्य है। साहित्यिक शोध के क्षेत्र में अध्ययन के दो रूप हो सकते हैं —विवेच्य ग्रन्थों का अध्ययन तथा सहायक ग्रन्थों का अध्ययन। अध्ययन के ये दो रूप सभी विषयों के क्षेत्र में अपेक्षित नहीं हैं। कुछ साहित्यिक विषयों में ही यह भेद दृष्टिगोचर हो सकता है। साहित्येतर विषयों में ये भेद प्रायः नहीं होते किन्तु कुछ साहित्येतर विषयों में भी इस प्रकार के भेद दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए कानून के क्षेत्र में 'वर्तमान भारतीय न्याय-संहिता के निर्माण में स्मृतियों का योग दान' को ले सकते हैं। इस विषय में उक्त दो भेद स्पष्ट हैं। स्मृति ग्रन्थ विवेच्य ग्रन्थ होंगे तथा उनमें संचित तथ्यों के आलोचन एवं पुष्टीकरण के लिए सहायक ग्रन्थों की आवश्यकता भी होगी।

मूल ग्रन्थों का अध्ययन

इस प्रकार सामग्री भी दो प्रकार की हो सकती है—एक तो मूल ग्रन्थों से संबंधित तथा दूसरी सहायक* ग्रन्थों से संबंधित। तथ्य-संकलन मूल ग्रन्थों के आधार पर किया जाता है और तथ्यों की व्यवस्था तथा व्याख्या में सहायक ग्रन्थों की सहायता ली जाती है। शोध-संबंधी अध्ययन का प्रारम्भ मूल ग्रन्थों से करना चाहिये। मूल ग्रन्थों का अध्ययन प्रमुख होता है और सहायक ग्रन्थों का गौण। वैसे तो शोध-कर्ता को अपने मत की पुष्टि के लिए दूसरे विद्वानों के मतों की भी आवश्यकता होती है, किन्तु मूल ग्रन्थों के बिना तो शोधार्थी का काम ही नहीं चल सकता।

जहाँ तक हो सके मूल ग्रन्थों का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिये। मूल ग्रन्थों की संख्या बहुत होने पर उनको वर्गीकृत कर लिया जाता है और वर्ग के प्रतिनिधि ग्रन्थों की संख्या नियत करली जाती है। उनका अध्ययन विशेष सतर्कता से किया जाता है। शेष का उपयोग यथा-अवसर किया जाता है, इसलिए उनकी प्रमुखता का निर्णय मूल-ग्रन्थों में हो जाता है। प्रतिनिधि ग्रन्थों का निर्धारण बड़ी सावधानी से करना चाहिये। कभी-कभी असावधानी से प्रमुख ग्रन्थ गौण स्थान और गौण ग्रन्थ प्रमुख स्थान ले लेते हैं। यह बहुत अच्छी बात नहीं है। पाठशोधन में तो इस विषय में विशेष सतर्कता बरतनी चाहिये। कभी-कभी सैकड़ों ग्रन्थों को सामने रख कर पाठ-निर्धारण करना होता है, किन्तु सभी ग्रन्थों को प्रामुख्य नहीं दे दिया जाता। जो ग्रन्थ अधिक प्रामाणिक होते हैं उन्हीं को प्रमुखता दी जाती है और उन्हीं के आधार पर पाठ-विनिश्चय किया जाता है।

कुछ विषय ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें मूल ग्रन्थों का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरण के लिए 'अलीगढ़ जिले की वर्तमान बोली' को ले सकते हैं। इस अध्ययन में मूल ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे अध्ययन मेज पर बैठ कर नहीं किये जाते। इनके लिए पैमाइश (सर्वे) या सर्वेक्षण की आवश्यकता होती है। सर्वेक्षण के नोट ही मूल ग्रन्थों का काम देते हैं।

हाँ तो मूल-ग्रन्थों का अध्ययन बड़ी सावधानी से करना चाहिये। किसी कीमत पर मूल ग्रन्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शोधकर्ता का मौलिक मत भी इन्हीं के आधार पर निर्मित होता है। मूल ग्रन्थों को समग्रतः पढ़ना चाहिये और तत्-विषय से सम्बन्धित उद्धरणीय बातों को या तो चिह्नित कर लेना चाहिये या फिर नोट कर लेना चाहिये। मूल ग्रन्थों के अधूरे अध्ययन से काम नहीं चल सकता क्योंकि पूर्ण अध्ययन के बिना न तो आवश्यक तथ्यों को संकलित किया जा सकता है और न उनकी व्यवस्था ही निर्दोष की जा सकती है।

---

*सहायक ग्रन्थों को कुछ विद्वानों ने 'परमर्श ग्रन्थों' की अभिधा भी प्रदान की है। प्रयोग के गर्भ में शब्द नवीन अर्थ किस प्रकार से धरता है यहाँ स्पष्ट है।

मूल ग्रन्थ और मौलिक उद्भावनाएं

मूल ग्रन्थों के अध्ययन के समय शोध-कर्ता के मन में कुछ मौलिक उद्भावनाओं का उदय हो सकता है, जिनको रूप-रेखा में स्थान नहीं मिल सका है। उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये किन्तु विषय से उनका सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। इस समय रूप-रेखा में परिवर्तित होने की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। ऐसी मौलिक उद्भावनाएं अनेक हो सकती हैं, किन्तु विभिन्न अध्यायों में उनका स्थान निश्चित कर लेना चाहिये। इन संकेतों को रूप-रेखा के अन्य प्रारूप में यथास्थान अंकित करते जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में अपने निर्देशक से भी उचित समय पर परामर्श ले लेना चाहिये। यह परामर्श बड़े महत्त्व का होगा इसलिए इसके सम्बन्ध में प्रमाद से काम नहीं लेना चाहिए।

मूल ग्रन्थों का पूरा अध्ययन हो जाने पर बहुत परिवर्तित रूप-रेखा सामने आ सकती है, जिससे शोधार्थी का मार्ग बहुत स्पष्ट और सुगम हो जाता है। अध्ययन के इस दौर में शोध-कर्ता को ऐसा प्रतीत होने लगता कि वह अपने विषय पर कुछ जानता है। कभी-कभी वह अपनी गलत बात को भी सही मान कर बैठ जाता है। यह स्थिति अक्सर होती है। जब कभी कोई शंका की स्थिति उत्पन्न हो तो उसे नोट कर लेना चाहिये और उसके सम्बन्ध में विद्वानों से विचार-विनिमय कर लेना चाहिये किन्तु स्वतः मत बना बैठना उचित नहीं है। शंका-समाधान के लिए यथावश्यकता सहायक ग्रन्थ या ग्रन्थों का उपयोग कर लेना भी अच्छा होता है किन्तु इस समय उनके पीछे पड़ जाना अच्छा नहीं होता क्योंकि उनका अधिक पीछा करने से शोधार्थी दिशान्तर में भटक सकता है।

मूल ग्रन्थ और प्रबन्ध-प्रारूपण

मूल-ग्रन्थों के अध्ययन और यथावश्यक सहायक ग्रन्थों के अवलोकन के पश्चात् शोधार्थी के सामने प्रबन्ध को रूप देने की बात आती है। कुछ निर्देशकों का मत है कि इस समय सहायक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित होता है। मेरी समझ में अध्ययन शोधार्थी की मौलिक उद्भावनाओं को पंगु कर सकता है। इस समय अध्याय-विशेष के लिए संकलित सामग्री का मौलिक उपयोग करना ही समीचीन है। अध्याय विशेष की सामग्री के आधार पर उसको मौलिक ढंग से लिख लेना उपयुक्त होता है। अध्याय या विशेष प्रकरण पूरा होने पर तत्सम्बन्धी सन्दर्भ-ग्रन्थों का उपयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। अपने विचारों या मतों को सन्दर्भ-ग्रन्थकारों के विचारों या मतों के साथ तोलना स्वतन्त्र निष्कर्ष में बहुत सहायक होता है। अपने तर्कों में कमी होने पर यथोचित संशोधन करना न्यायसंगत है, अन्यथा इतर मतों की दुर्बलता दिखलाते हुए अपने मतों को पुष्ट करना असंगत नहीं है। अपने मत की पुष्टि के लिए युक्तियों का परिमाण आवश्यक है।

सहायक-ग्रन्थों का अध्ययन और मौलिक मत

विद्वानों के मतों की परीक्षा के समय पूर्वाग्रहों से निष्कर्षों में तर्क-बाधा पैदा हो जाती है और उनका बल क्षीण हो जाता है। किसी विद्वान् के मत का खंडन या मंडन करना है, ऐसे किसी आग्रह के साथ शोधार्थी को आचरण नहीं करना चाहिये। प्रत्येक मत का मूल्य वस्तु-रूप में आँक कर निष्कर्ष निकालना ही श्रमोपेत होता है। खंडन या मंडन की प्रवृत्ति शोध के लिए वर्जनीय है। प्रत्येक मत का अपना मूल्य होता है, चाहे वह कम हो या अधिक उसको स्वतन्त्र रूप में देखना चाहिये। जहाँ मूल्य का सामान्य बाधित होता है वहाँ तथ्य-व्यवस्था तथा व्याख्या में विषमता पैदा हो जाती है। फिर पुष्ट निष्कर्षों का निर्वाह सम्भव नहीं होता।

आकर्षक तथा पुष्ट मत

किसी आकर्षक मत में भी तर्क-पोषण न हो यह बहुत सम्भव है, किन्तु प्रत्येक आकर्षक मत को अपुष्ट नहीं कहा जा सकता और प्रत्येक तर्क-पुष्ट मत में आकर्षण की खोज भी शोधक को निराश कर सकती है। आकर्षक तथा पुष्ट तर्क किसी मत के लिए स्वर्ण-सौरभ सुयोग प्रदान करते हैं। यह शैली की प्रक्रिया का अनुकूल परिणाम सिद्ध होता है।

मत का वस्तुपरक मूल्यांकन

कभी-कभी मतों की पूजा मतकार के नाम के आधार पर की जाती है। यह वस्तुपरक दृष्टिकोण की उपेक्षा है। ऐसी हीनता का उदय व्यक्ति-पूजा की भावना से नहीं कायरता की भावना से होता है। विशेष नाम से सम्बन्धित होने के कारण किसी मत को सहसा मान लिया जाय यह प्रवृत्ति शोधार्थी की भयंकर दुर्बलता है। हो सकता है कि इस प्रवृत्ति से उसे उपाधि मिलने में सहायता मिले किन्तु इससे कृति के मूल्य को धक्का पहुँचे बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक मत का स्वतन्त्र मूल्य होता है, किन्तु तर्कों से उसको सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है। इसमें उसी मत को प्रस्तुत करना उचित होता है जिसमें तर्क होता है। तर्कों में शोध-प्रबन्ध की शक्ति सन्निहित होती है।

शोध-कर्ता का अपना मत

इस प्रकार प्रत्येक अध्याय में ही नहीं प्रस्तुत प्रत्येक प्रकरण में मूल ग्रन्थों के अध्ययन से उद्भूत तथ्यों की व्यवस्था से संवलित व्याख्या में शोध कर्ता का अपना मत झलकता है और उसके अपने मौलिक तर्क होते हैं। दूसरों के मत देकर भी वह अपने मत को पुष्ट कर सकता है। उनका खंडन उसके मत के लिए स्थान तैयार करता है। यहाँ खंडन से अभिप्राय तर्कों के आधार पर उनकी दुर्बलता को प्रकट करना है। खंडन-मंडन-रत शोध-कार्य के मूल्य को घटाता है। अपने मत को समर्थ दिखाने के लिये दूसरों के मत उद्धृत

किये जाते हैं, किन्तु विश्लेषण के लिए अपनी बात कहकर दूसरों के मत को दुहराने से शोध-कृति की महिमा बढ़ने के स्थान पर घटती है। कृति में अपने मत की कुछ विशेषता होनी चाहिये अन्यथा उसका होना व्यर्थ है। हाँ किसी विशेषता की भूमि को प्रस्तुत करने के लिए दूसरों का मत देना 'एक पीर एक म्याउ' का काम करता है।

मतोद्धरण और सहायक ग्रन्थों का अध्ययन

इस काम के लिए सहायक ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता होती है। किसी प्रकरण या अध्याय को लिखने के पश्चात् उससे सम्बन्धित सहायक ग्रन्थों के अवलोकन की बात पहले ही कही जा चुकी है। यदि शोधक के मन में कोई नवीन दृष्टिकोण उद्घाटित नहीं हो रहा है तो दूसरों के मत को उद्धृत करना ही समीचीन है, अन्यथा अपने मत के साथ दूसरों के मत को उद्धृत देने में कोई तुक नहीं होती। अपने मत के साथ तुलना करने पर दूसरे के मत में सामर्थ्य दृष्टि-गोचर न हो तो पुष्ट आधारों पर उसका खण्डन करना असंगत नहीं होगा। दूसरों का मत देने में अपनी विनम्रता दिखाने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु दूसरों के उद्धरणों से शोध-ग्रन्थ को मोटा करना अच्छा नहीं है।

सामग्री-संकलन और उसका उपयोग

शोध-प्रबन्ध से सम्बन्धित सामग्री से तात्पर्य उन उपकरणों से होता है जिनके आधार पर शोध-प्रबन्ध लिखा जाता है। ये उपकरण उन सूत्रों का काम करते हैं जिनसे प्रबन्ध-पट बुना जाता है। पट की लम्बाई-चौड़ाई के अनुमान से ही सूत्रों का विनियोग किया जाता है। सूत्रों का उपयोग किसी माप के अनुसार करना पड़ता है। बहुत अधिक सूत्रों में से कुछ सूत्र निकालने का काम सामान्यतः कठिन होता है। इसलिए उपयुक्त सूत्रों का संकलन ही आवश्यक होता है। सामग्री की अतिन्यूनता भी ठीक नहीं होती और जो कुछ भी संकलित कर लिया जाता है उस सबका उपयोग भी नहीं कर लिया जाता। कम होने पर आवश्यक सामग्री फिर जुटाई जा सकती है। अत्यधिक या अतिन्यून सामग्री से प्रबन्ध नष्ट होता है। इसमें सत्ता कल्पित होती है। यद्यपि यह अनुमान लगाना कि अमुक अध्याय में इतनी ही सामग्री की आवश्यकता होगी कठिन अवश्य है, किन्तु थोड़ी सी घटत-बढ़त तो बाद में भी होती रहती है। इससे विशेष हानि की सम्भावना नहीं होती। हानि तो तब होती है जब प्रबन्ध के लिए अपेक्षित सामग्री का औचित्य अतिक्रमित हो जाता है।

सामग्री-संकलन और विवेक

कुछ शोधार्थी निर्देशक से यह आदेश पाकर कि 'अब आप सामग्री संकलित कीजिये' सामग्री का संकलन प्रारम्भ करने लगते हैं और उनके पास रद्दी-कापी एवं कागजों का आम्बार एकत्र हो जाता है। वर्षों वे उपयोगी सामग्री खोजकर उसे व्यक्त करना भी एक छोटे मोटे शोध का विषय बन जाता है। इस अवसर पर कितने ही

शोधार्थी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं क्योंकि उनको खोये हुए समय और श्रम से अधिक की आवश्यकता होती है। समय के साथ न केवल श्रम बढ़ता है वरन् व्यय भी बढ़ता है। शोध-कार्य में नियम से कहीं अधिक समय लगाना बुद्धिमानी नहीं है।

सामग्री-संकलन कब और कैसे ?

सामग्री-संकलन के संबंध में किसी भी शोधार्थी के समक्ष यह प्रश्न आ उठता है कि संकलन कब और कैसे करना चाहिये ? कब के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि (मूल ग्रन्थों के अध्ययन के साथ ही सामग्री-संकलन के कार्य का प्रारंभ हो जाने में) कोई हर्ज नहीं है, वरन् सुविधा होती है किन्तु पूरी सामग्री के संकलित होने का अवसर वस्तुतः मूल ग्रन्थों के अध्ययन के बाद सहायक ग्रन्थों के अध्ययन के समय ही होता है। मूल ग्रन्थों के अध्ययन के समय भी कुछ अनुमानतापा को उठने का अवसर मिलता है। मूल ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त रूप-रेखा में संशोधन तो हो ही जाता है, साथ ही सामग्री-संकलन के लिए कुछ अधिक स्थिर वास्तविक पीठिका तैयार हो जाती है। रूप-रेखा के परिवर्तन के आधार पर सामग्री के मूल्य का आँकना उचित नहीं है, क्योंकि रूप-रेखा तो टाइप होने तक बदलती रहती है।

सामग्री का संकलन किस प्रकार करना चाहिए ? इस संबंध में भी निर्देशकों में मत-भेद है। 'इदमित्थं' कह कर एक विद्वान् दूसरे के मत के लिए सीमाएं निर्धारित नहीं कर सकता। इस विषय में एक उलझन तो यही है कि सामग्री समग्र प्रबन्ध के लिए एक साथ संकलित की जाये या अध्याय-क्रम से ? यदि समग्र प्रबन्ध के लिए एक साथ सामग्री संकलित की जाती है तो सामग्री-संकलन पर शोधार्थी का नियन्त्रण नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अध्याय-क्रम से शोध-प्रबन्ध के लिखने के समय पूरी सामग्री में से उपयुक्त सामग्री का चयन करना स्वतः एक शोध-कार्य बन जाता है। अतएव यह प्रक्रिया सरल नहीं है। इससे बचना ही उचित है।

अध्याय-क्रम से सामग्री-संकलन

एक बार मूल-ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् (अथवा अध्ययन करते समय ही) अनुसन्धाता को अध्याय-क्रम से सामग्री का संकलन करते जाना चाहिये। सामग्री संकलन की दृष्टि से एक के बाद दूसरे ग्रन्थ का अध्ययन ही अधिक उपयुक्त होता है। ऐसा करने से अनुसन्धाता प्रायः सामग्री-संकलन में उत्पन्न होने वाली उलझन से बचा रहता है। जो लोग एक ग्रन्थ से एक ही साथ एक ही स्थान पर सामग्री-संकलित कर लेते हैं उनके सामने अध्यायों के लिए सामग्री का विभाजन एवं व्यवस्थापन करने में पूर्वोक्त कठिनाई आती है। अध्याय-क्रम से एक-एक ग्रन्थ से सामग्री का संकलन न केवल व्यर्थ श्रम से बचाता है, अपितु कार्य को सुन्दर भी बना देता है। अतिरिक्त किन्तु उपयुक्त सामग्री के सम्बन्ध में अतिरिक्त अध्याय की व्यवस्था भी अवश्य हो सकती है। इससे इस

रेखा में परिवर्तन तो अवश्यंभावी है, किन्तु इससे अध्याय-क्रम में विघ्न पड़ना नहीं चाहिये।

मूल ग्रन्थों से सामग्री-संकलन के कार्य के पूर्ण हो जाने पर अध्याय-विशेष के लिखने के विचार से सहायक ग्रन्थों से उपयुक्त सामग्री खोजकर अध्याय को लिख डालना चाहिये। इस समय संदर्भों के सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरतनी चाहिये अन्यथा विशेष कठिनाई के आने की सम्भावना रहती है।

अध्याय-विशेष के लिये संकलित सामग्री के दो भाग होने चाहिये। प्रथम भाग में मूल सामग्री तथा द्वितीय भाग में सहायक सामग्री रखनी चाहिये। मूल सामग्री के साथ ही सहायक सामग्री के संकलन से लेखक के मौलिक निष्कर्ष दूसरों के मतों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। इसलिए मूल सामग्री का संकलन (भले ही वह अध्याय-विशेष के लिए हो) पूर्ण हो जाने पर ही सहायक सामग्री का संकलन करना समीचीन होता है।

प्रारम्भ एवं अध्याय-क्रम

प्रबन्ध-प्रारम्भ में विषय अध्याय-क्रम आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में लेखक अपनी रुचि और सुविधा के अनुरूप काम कर सकता है। प्रथम के पश्चात् दूसरा अध्याय लिखने के लिए कोई सैद्धान्तिक आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

कुछ विद्वान् यह भी सोचते हैं कि प्रबन्ध-प्रारम्भ को मूल-ग्रन्थों से संकलित-सामग्री पर ही आधारित करना चाहिए। इसके पश्चात् एक-एक अध्याय को लेकर उसको परिपुष्ट एवं पूर्ण करने की दृष्टि से सहायक ग्रन्थों की सामग्री का उपयोग करना चाहिये। इससे सबसे बड़ा लाभ यह बतलाया जाता है कि लेखक के मतों की मौलिकता प्रभावों से अछूती रहती है। जो हो सामग्री-संकलन की पूर्वोक्त प्रक्रिया ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है क्योंकि यह अधिक सरल है।

जिन विषयों में मूल और सहायक ग्रन्थों में भेद नहीं होता उनके लिए सामग्री-संकलन की दो भागों की अपेक्षा नहीं रहती। अधिकतर साहित्येतर विषयों में सामग्री-संकलन इसी प्रकार का होता है। इससे लेखक को एक बड़ी दुविधा से मुक्ति मिल जाती है।

किसी प्रकरण या अध्याय को समाप्त करने पर निष्कर्ष देना होता है, जो प्रायः एक [illegible] होने के साथ निचोड़ भी होता है।

उपसंहार और परिशिष्ट के लिए [illegible] एक क्रम का अनुपालन आवश्यक है। उपसंहार [illegible] तों के बाद में लि[illegible] और इसमें मूल प्रबन्ध के तथ्य में निष्कर्ष प्र[illegible] है। उपसंहार में [illegible] [illegible] दिया जाता है। जो सामग्री-मूल प्रबन्ध [illegible] अपनी [illegible] सम्बन्धी सूचना की

भूमिका, जो प्रबन्ध की धारा के हेतु सीढ़ी का काम करती है, समय की दृष्टि से सबसे बाद में लिखी जाती है। यह प्रथम अध्याय से पूर्व व्यवस्थित की जाती है। इसके पूर्व प्रकरणिका या विषय-सूचनिका होती है और इसके भी पहले प्राक्कथन देकर संदर्भ संकेत दिये जाते हैं। ग्रन्थ-सूची परिशिष्ट के पश्चात् दी जाती है। इसकी व्यवस्था के समय से शोध प्रबन्ध प्रमाणित नहीं होता है। मैं समझता हूँ ग्रन्थ-सूची देने के पश्चात् ही प्राक्कथन और संदर्भ-संकेत की दिशा में लौटना चाहिये। शोध-प्रबन्ध अपने अंतिम रूप में इस प्रकार व्यवस्थित होता है।

मेरे विचार से पहले 'ड्राफ्ट' के समय लेखक का ध्यान अध्यायों पर ही केन्द्रित होना चाहिये। दूसरे 'ड्राफ्ट' में पूरे शोध-प्रबन्ध का वास्तविक रूप प्रकट हो जाना चाहिये और एक बार पुनः परिमार्जित होने के पश्चात् उसको 'टाइप' करा लेना चाहिये। कुछ निर्देशक तीसरे 'ड्राफ्ट' को अनावश्यक समझते हैं, किन्तु परिमार्जन की दृष्टि से इसकी आवश्यकता को कम नहीं किया जा सकता।

उपसंहार और सामग्री

उपसंहार के लिए पृथक सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। अध्यायों के लिए संकलित सामग्री से ही उसका काम चल जाता है। विशेष आवश्यकता होने पर मूल या सहायक ग्रंथों से कुछ सहायता भी ली जा सकती है किन्तु उपसंहार में किसी नये मत प्रतिपादन को प्रश्रय नहीं दिया जाता। प्रतिपादन-कार्य अध्यायों में ही समाप्त कर लेना उचित होता है।

परिशिष्ट और सामग्री

परिशिष्ट में सामग्री के उस अवशेष का उपयोग होता है जो अध्यायों से बच जाती है। यह ऐसी सामग्री होती है जिसका उपयोग प्रायः मूल प्रबन्ध में नहीं हो पाता। यह प्रबन्ध के संबंध में अतिरिक्त सूचना देने में ही सहायक होती है।

भूमिका और सामग्री

भूमिका के लिए सामग्री अलग से जुटाई जाती है। उसके लिए सहायक सामग्री अनिवार्य है। उसमें मूल सामग्री बहुत कम काम में आती है। उसका संबंध मूल प्रबन्ध से केवल इतना ही होता है कि यह लेखक या पाठक को मूल प्रबन्ध तक ले जाने में सहायक होती है, इसलिए उसमें मूल सामग्री का कम उपयोग होता है। मूल की पीठिका में सहायक होने वाले ग्रन्थ ही इसके उपजीव्य होते हैं।

भूमिका और मूल ग्रन्थ

क्या भूमिका का संबंध मूल ग्रन्थों से होना चाहिये अथवा नहीं, यह एक जटिल प्रश्न है। जटिल इसलिए है कि भूमिका की स्थिति के संबंध में ऐकमत्य नहीं है। जो

शोध भूमिका से प्रथम अध्याय का काम लेते हैं उनको मूल अध्यायों से संबंध रखना पड़ता है, किन्तु जो शोध भूमिका को पृथक लिखते हैं उनको मूल अध्यायों से इतना संबद्ध होने की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ मूल अध्याय का उपयोग भूमिका में अविकलता से कर लिया जाता है उसके दो परिणाम हो सकते हैं —एक तो यह कि भूमिका का कलेवर बढ़ सकता है और दूसरा यह कि भूमिका अध्यायों की सामग्री का ही कुछ अंश ले बैठती है। इससे अध्यायों में या तो उस सामग्री का अभाव खटकने लगता प्रतीत होता है अथवा सामग्री की पुनरुक्ति होती है।

भूमिका का स्थान

कुछ विद्वान् भूमिका को मूल प्रबन्ध का एक अध्याय बना लेते हैं। क्या यह उचित है? औचित्य विचारास्पद है। अन्यत्र यह कहा जा चुका है कि भूमिका प्रबन्ध के साथ सीढ़ी का काम करती है, वह प्रबन्ध की धरा नहीं बन सकती। भूमिका उस ट्रेन का काम करती है जो यात्री को स्टेशन पहुँचा कर कृतकृत्य हो जाता है। वह न तो प्लेटफॉर्म का काम कर सकता है और न रेलगाड़ी का। इसमें संदेह नहीं कि शोध-प्रबन्ध में भूमिका का एक स्थान नियत होता है किन्तु वह विषय की प्रधान भूमि पर अपना अधिकार नहीं कर सकती।

यदि भूमिका को ही प्रथम अध्याय का रूप दिया जावे तो फिर भूमिका का नामकरण सार्थक नहीं होता है। अध्याय-विशेष दूसरे अध्याय के साथ पूर्वापरता का संबंध अवश्य रखता है, किन्तु एक की सामग्री का संबंध दूसरे की सामग्री से नहीं होता है। पृथक-पृथक सामग्री से पृथक-पृथक अध्याय का कलेवर पुष्ट होता है किन्तु भूमिका के संबंध में यह बात अनिवार्य नहीं होती। भूमिका को, सभी अध्यायों पर दृष्टिपात करते हुए, उनके परिचय की तैयारी करनी पड़ती है। भूमिका की सफलता इसी में है कि वह विषय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके शोध-प्रबन्ध से जोड़ दे। जहाँ शोध-प्रबन्ध का एक अध्याय एक प्रकरण (या कुछ प्रकरणों) से ही सम्बन्धित होता है वहाँ भूमिका को सब अध्यायों की देख-भाल करनी पड़ती है। भूमिका किसी अध्याय-विशेष का पक्ष नहीं लेती किन्तु वह एक ऐसे दर्पण का काम करती है जिसमें प्रत्येक अध्याय अपनी सामान्य एवं संक्षिप्त झाँकी पा सकता है।

भूमिका का आकार

प्रबन्ध की काया में भूमिका अपनी काया का अति प्रसार न करने पाये शोधार्थी को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये। अधिक बड़ी भूमिका असन्तुलन-दोष से मुक्त नहीं रह सकती। अनेक शोधार्थी यह पूछा करते हैं कि भूमिका कितनी बड़ी होनी चाहिये? इस संबंध में कोई नियम या सिद्धान्त नहीं है और न कोई नियम लागू ही हो सकता है। विषय की पृष्ठभूमि को जितनी अपेक्षा हो उतनी ही बड़ी भूमिका हो। अपनी

है, किन्तु भूमिका का आकार बहुत बढ़ जाने से प्रबन्ध विकृतकाय हो जाता है। इसके अतिरिक्त भूमिका का प्रभाव भी क्षीण हो जाता है। जो पोषक तत्व प्रबन्ध की काया में अपेक्षित होते हैं वे या तो भूमिका में आकर अध्यायों को दुर्बल बना देते हैं अथवा अध्यायों में उनकी पुनरावृत्ति होती है, जो शोध-प्रबन्ध को दूषित करती है।

संतुलित भूमिका प्रबंध का गुण है। किसी विशेष सिद्धान्त या नियम के अभाव में नहीं कहा जा सकता है कि भूमिका का आकार प्रबंध के पंचमांश से बड़ा नहीं होना चाहिये। कभी-कभी छोटी भूमिका भी प्रबन्ध में अपने प्रभाव को अक्षुण्ण बनाये रहती है। सच तो यह है कि भूमिका के आकार का निर्णय आवश्यकता के अनुसार ही करना चाहिये। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिये कि आवश्यकता का दुरुपयोग (भूमिका के बढ़ने से) प्रबंध को विकलांग कर देता है जो शोध-प्रबन्ध में वर्जनीय है।

इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि भूमिका की सामग्री अधि-कांशतः मूल ग्रन्थों पर आधारित नहीं होती है। भूमिका प्रायः सहायक ग्रन्थों की सामग्री से ही पुष्ट होती है। हाँ उसमें मूल ग्रन्था का स्पर्श होना बुरा नहीं है किन्तु बड़े कौशल से होना चाहिये। जो विषय मूल ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं रखते उनके लिए लिखी गई भूमिका सहायक ग्रन्था की सामग्री से ही परिपोषित होती है।

प्राक्कथन का आकार-प्रकार

प्राक्कथन की स्थिति के सबंध में ही नहीं उसके आकार-प्रकार के संबंध में भी शोधार्थी कभी-कभी भ्रान्त रहते हैं। 'प्राक्कथन' अंग्रेजी शब्द 'फॉरवर्ड' के लिए प्रयुक्त होता है जिसके लिए अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध में कोई गुंजाइश नहीं होती है। प्रकाशित ग्रन्थों में इसका समावेश किया जा सकता है किन्तु वह किसी 'बड़े' आदमी से लिखाया जाता है। आज 'प्राक्कथन' शब्द शोध-प्रबन्धों में 'फैशन' बन कर समाविष्ट हो रहा है। अप्रकाशित प्रबन्धों में भी इसको समाविष्ट कर लिया जाता है। अधिकांश लोग प्राक्कथन से भूमिका से ही किसी अंश की पूर्ति करते दिखाई देते हैं। प्रायः यह तभी होता है जब भूमिका से अध्याय का काम लिया जाता है। इस दशा में प्राक्कथन विषय का स्पष्टी-करण, सीमाएँ विषय से संबंधित तत्काल कार्य व किये हुए कार्य का विवरण एवं संबंधित प्रबन्ध की मौलिकता प्रस्तुत करता है। कभी-कभी कुछ लोग प्रबन्ध-सम्बन्धी सुविधा असुविधाओं का उल्लेख भी प्राक्कथन ही में कर देते हैं। कुछ प्रबन्धों में भूमिका के अपने स्थान पर रहते हुए भी प्राक्कथन की व्यवस्था मिलती है और इसी में आभार प्रदर्शन भी कर दिया जाता है। वस्तुतः प्रबन्ध का लेखक प्राक्कथन को अनिवार्य नहीं मानता है। 'फैशन' के रूप में व्यवस्थित प्राक्कथन की कुछ सामग्री तो भूमिका में आ सकती है और कुछ दो शब्द' आदि में। यदि प्राक्कथन 'दो शब्द' के पर्याय के रूप में हो प्रयुक्त हो तो विशेष आपत्ति की बात नहीं है।

प्राक्कथन और सहायक ग्रन्थ

जिस प्रकार भूमिका लिखने में किन्हीं विशेष सहायता सहायक ग्रन्थों से ली जाती है, उसी प्रकार प्राक्कथन में भी। प्राक्कथन में तो अनिवार्यतः मूल ग्रन्थ मौलिक ही नहीं होते किन्तु विषय से संबन्धित पूर्वतन कार्य के विवरण के लिए अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं उल्लेख आवश्यक होता है। भूमिका की भाँति प्राक्कथन भी अध्यायों के बाद ही लिखा जाना चाहिये वरन् भूमिका के भी बाद क्योंकि उस समय तक विषय के अनेक पहलू शोधार्थी को प्रकट हो जाते हैं। विषय का क्षेत्र और उपयोगिता का चित्र लेखक के सामने स्पष्ट उभर आता है। तत्सम्बन्धित किये हुए काम की जानकारियों के जोड़ने में अनेक सन्दर्भ-ग्रन्थों का परिचय भी सहायक हो सकता है। इसीलिए भूमिका के बाद ही प्राक्कथन का लिखा जाना उचित है।

प्राक्कथन को दीर्घकाय बनाना प्रशंसनीय नहीं है। यह संक्षिप्त, सारगर्भित एवं स्पष्ट होना चाहिये। प्राक्कथन में प्रायः यह भय रहता है कि कहीं वह भूमिका के क्षेत्र में भी न घुस बैठे। अतएव लेखक को उसके लिखते समय सतर्क रहने की आवश्यकता है।

भाषा-अध्ययन और सामग्री-सङ्कलन

सर्वेक्षण-मात्र भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में सामग्री का संकलन अध्याय-क्रम से कर लेना चाहिये अन्यथा प्रत्येक अध्याय के लिए बार-बार किसी स्थान या स्थानों पर जाकर वहाँ व्यक्ति विशेषों से व्याख्यादि से संकलित तथ्यों की गवेषणा संभव नहीं हो सकती। सर्वेक्षण-संबंधी और भी ऐसे विषय हो सकते हैं जिनमें इसी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। ऐसे सभी विषयों के लिए अध्याय परीक्षित सामग्री का एक ही साथ संकलन कर लेना अच्छा होता है। लिखते समय इस सामग्री के उपयोग-क्रम में भेद हो सकता है।

सामग्री-सङ्कलन और सान्दर्भिक सतर्कता

सामग्री-संकलन के समय संदर्भों के संबंध में बड़ी सतर्कता बरतनी चाहिये। सन्दर्भ-ग्रंथों के अध्ययन या अवलोकन के समय ग्रन्थ के नाम संस्करण लेखक के नाम और पृष्ठ को बड़ी सावधानी से नोट कर लेना चाहिये। तनिक सी भी भूल हो जाने पर फिर कभी-कभी सन्दर्भ दुष्प्राप्य हो जाते हैं। सन्दर्भ के बिना सामग्री का उपयोग असमुचित एवं शोध योग्य नहीं होता। गलत सन्दर्भ देना तो और भी भयंकर है। इससे न केवल लेखक के अशिष्ट होने की सम्भावना रहती है प्रत्युत पाठकों का अनिष्ट भी हो सकता है। इससे भूल का प्रसार भी होता है जो एक अपराध से कम नहीं होता।

सान्दर्भिक सूची

सान्दर्भिक सूची दो प्रकार की हो सकती है—अध्यायी सूची व पुस्तक से सम्बद्ध व्यक्तियों की सूची। अध्यायी सूची का आरम्भ प्रत्ये

कभी-कभी लेखक असावधानी के कारण कुछ का कुछ लिख जाता है जिससे कभी सामग्री अशुद्ध हो जाती है और कभी उसमें पतन हो जाता है। कभी-कभी अज्ञान से भी भयंकर सार्वजनिक भूलें हो जाती हैं। रोमन लिपि में मेरे एक परिचित व्यक्ति ने 'रमाण' को रमन पढ़कर जो भ्रान्ति फैलाई वह बौद्धिक दिवाले की द्योतक है। व्यक्ति वस्तु या स्थान के नाम से सम्बन्धित कोई भी भूल शीघ्र पकड़ी जा सकती है। उसमें शोधक और निर्देशक दोनों का नाम कलंकित होता है। इसलिए नाम लिखते समय बड़ी सावधानी एवं प्रबुद्धता से काम लेना चाहिये। नाम-सम्बन्धी भूलें प्राय इतर लिपियों के माध्यम से होती हैं। किसी अस्पष्ट नाम को विशेषज्ञ से स्पष्ट कर लेना ही उचित होता है।

टंकण या मुद्रण की भूलें प्राय इनसे सम्बन्धित लोगों के प्रमाद से होती हैं, किन्तु कभी लिपि की अस्पष्टता से भी शुद्ध टंकण या मुद्रण प्रभावित होता देखा गया है। संशोधन के समय ऐसी भूलें निकाल देने के लिए शोधक को बड़ी सतर्कता से काम लेना चाहिये। इन भूलों का स्थान तो बाद में आता है सामग्री-संकलन का स्थान तो इनसे बहुत पहले का है। अन्य भूलों को दूर कर देना इतना दुष्कर नहीं है जितना सामग्री-संकलन में समाविष्ट भूलों का दूर करना दुष्कर है।

शोध-प्रबन्ध में अपने प्रकाशित लेखों का उपयोग

प्राय ऐसा देखा जाता है कि अनुसंधाता अपने शोध-कार्य को अनेक लेखों में प्रकाशित कराता चला जाता है और अन्त में उनका उपयोग अपने प्रबन्ध में कर लेता है। वैज्ञानिक विषयों में तो ये लेख (पेपर्स) ही शोध-प्रबन्ध का रूप ले लेते हैं। कुछ और विषयों में भी ऐसा हो सकता है, किन्तु यह लेख की प्रकृति पर निर्भर है। प्राय लेख प्रबन्ध की मर्यादा का उल्लंघन कर जाते हैं। उनका उपयोग प्रबन्ध में काट-छाँट के बाद ही किया जा सकता है। यदि लेखक उनको प्राबन्धिक मर्यादा के अन्तर्गत लिखता है तो उनको प्रबन्ध के किसी अध्याय में सरलता से सम्मिलित किया जा सकता है। कुछ शोधार्थी विषय से सम्बन्धित जिन्हीं भी लेखों के बल पर अपने कार्य को पूर्ण समझ बैठते हैं किन्तु प्रबन्ध-प्रारूपण के समय उनके सम्बन्ध में उन्हें निराश होना पड़ता है। मेरे एक शोध-छात्र ने अपने विषय की रूप-रेखा बनते ही उस पर अनेक लेख लिख कर कहा—मेरा प्रबन्ध पूर्ण हो गया। मेरे समझाने पर उन्हें अपनी भूल विदित हुई। फिर प्रबन्ध-प्रारूपण में पूरा एक वर्ष लग गया।

संचयन में सावधानी

दो सहायक ग्रन्थों या मूल ग्रन्थों में एक से विचार हो सकते हैं किन्तु दोनों की भाषा और प्रस्तुतीकरण में भेद हो सकता है। एक की भाषा दूसरे की भाषा से अधिक चटकीली मोहक सारगर्भित तथा ठोस हो सकती है। संचयन के समय ऐसी विशेषता को ध्यान-पथ रखना चाहिये। रोचक सामग्री प्रबन्ध में अधिक पठनीय है।

प्राक्कथन और सहायक ग्रन्थ

जिस प्रकार भूमिका लिखने के लिए विशेष सहायता सहायक ग्रन्थों से ली जाती है, उसी प्रकार प्राक्कथन में भी। प्राक्कथन में तो अधिकांशतः मूल ग्रन्थ अपेक्षित ही नहीं होते किन्तु विषय से संबंधित पूर्वकृत कार्य के विवरण के लिए अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एवं उपयोग आवश्यक होता है। भूमिका की भाँति प्राक्कथन भी अध्यायों के बाद ही लिखा जाना चाहिये वरन् भूमिका के भी बाद क्योंकि उस समय तक विषय के अनेक पहलू शोधार्थी को प्रत्यक्ष हो जाते हैं। विषय का क्षेत्र और उपयोगिता का चित्र लेखक के सामने स्पष्ट होकर आजाता है। उपलब्ध-पर्यन्त किये हुए काम की उपलब्धियों के खोजने में अनेक संदर्भ-ग्रन्थों का परिचय भी सहायक हो सकता है। इसीलिए भूमिका के बाद ही प्राक्कथन का लिखा जाना उचित है।

प्राक्कथन को दीर्घकाय बनाना प्रशंसनीय नहीं है। वह सुचिन्त, सारगर्भित एवं सम्पन्न होना चाहिये। प्राक्कथन में प्रायः यह भय रहता है कि कहीं वह भूमिका के क्षेत्र को भी न छू ले। अतएव लेखक को उसके लिखते समय सतर्क रहने की आवश्यकता है।

भाषा-अध्ययन और सामग्री-संकलन

सर्वेक्षण-साध्य भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन में सामग्री का संकलन अध्याय-क्रम से कर लेना चाहिए अन्यथा प्रत्येक अध्याय के लिए बार-बार किसी स्थान या स्थानों पर जाकर वहाँ आंचलिक उपयोगों से अध्यायों से संबंधित तथ्यों की अपेक्षा संभव नहीं हो सकती। सर्वेक्षण-संबंधी और भी ऐसे विषय हो सकते हैं जिनमें इसी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। ऐसे सभी विषयों के लिए अध्याय अपेक्षित सामग्री का एक ही साथ क्रम बद्ध कर लेना अच्छा होता है। लिखते समय उस सामग्री के उपयोग-क्रम में फेर हो सकता है।

सामग्री-संकलन और सांदर्भिक सतर्कता

सामग्री-संकलन के समय संदर्भों के संबंध में बड़ी सतर्कता बरतनी चाहिये। संदर्भ-ग्रन्थों के अध्ययन या अवलोकन के समय ग्रन्थ के नाम संस्करण लेखक के नाम और पृष्ठ को बड़ी सावधानी से ठीक लेना चाहिये। तनिक सी भी भूल हो जाने पर फिर कभी-कभी संदर्भ दुष्प्राप्य हो जाते हैं। संदर्भ के बिना सामग्री का उपयोग अपूर्ण एवं शोध योग्य नहीं होता। गलत संदर्भ देना तो और भी बदतर है। इसमें न केवल लेखक के अशिष्ट होने की संभावना रहती है प्रत्युत पाठकों का अनिष्ट भी हो सकता है। इससे भूल का प्रसार भी होता है जो एक अपराध से कम नहीं होता।

सांदर्भिक भूलें

सांदर्भिक भूलें दो प्रकार की हो सकती हैं—अपनी भूलें तथा प्रकाशन के दौरान या मुद्रण में सर्वाधिक व्यक्तियों की भूलें। अपनी भूलों का कारण प्रमाद का वश न होना है।

कभी कभी शोधकर्ता के सामने शब्द इतने महत्वपूर्ण नहीं होते जितने विचार होते हैं। ऐसे अवसर पर दूसरे के विचारों को अपनी भाषा में ढाल कर रख देने की प्रथा भी प्रचलित है। हाँ सन्दर्भ में मूल विचारक का नाम अवश्य दे देना चाहिये।

इस प्रकार सामग्री का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है—शोधकर्ता के अपने शब्दों में तथा ग्रन्थकार के शब्दों में। दूसरे के शब्दों को उल्टे अल्पविरामों में बन्द कर दिया जाता है और अन्त में अंकित या चिह्नित करना पड़ता है किन्तु अनुवाद्य के शब्दों में होने पर उपयुक्त शब्द या वाक्य को ही अंकित कर देना होता है।

सामग्री का उपयोग और ईमानदारी

ईमानदारी अपने सामाजिक मूल्य को प्रत्येक स्थान पर सुरक्षित रखती है। यों तो मूल ग्रन्थों से संकलित सामग्री का उपयोग भी ईमानदारी की अपेक्षा रखता है किन्तु सहायक ग्रन्थों से संकलित सामग्री का उपयोग कहीं अधिक ईमानदारी चाहता है। दूसरों के मत का उपयोग कर लेना बुरा नहीं है, प्रत्युत अपनी मत-पुष्टि के लिए दूसरों का मत देना कई बार अनिवार्य होता है, फिर भी दूसरे का मत दूसरे का ही रहता है वह अपना नहीं हो सकता। हाँ वह चोरी से अपना-जैसा दिखाया जा सकता है जो अपराध है, कानूनी भी और नैतिक भी।

शोध के क्षेत्र में यह ही बेईमानी को प्रोत्साहित करता है। अपने को बुद्धिमान प्रदर्शित करने की कामना करने वाले शोधक ही कलम से काम लेते हैं। वे दूसरों के वाक्य और मत को अपना-जैसा व्यक्त करते हैं, किन्तु अनुसंधान की पावन ज्ञान-भूमि पर यह आचरण अति निन्दनीय है। इससे शोधक और शोध-भूमि दोनों की निन्दा होती है और कई बार पकड़ में आजाने पर उपाधि अस्वीकृत भी हो सकती है। यदि दैवात् वह स्वीकृत भी हो जाये तो उसके प्रकाशित होने पर, निन्दा से पिंड छुड़ाना अत्यन्त दुष्कर होता है।

प्रबन्ध को मौलिक बनाने के लिए बुद्धि और श्रम का समुचित उपयोग करना चाहिये। बेईमानी मौलिकता की दुन्दुभी नहीं बजा सकती। झूठ की कलई खुले बिना नहीं रह सकती। जो साहित्य अपने नाम की उपयोगितात्मक व्याख्यों में सार्थक करता है, उसको बेईमानी से कलंकित करना अनुचित एवं वर्जनीय है। दूसरे के धन को छिपाने से हानि के सिवा कोई लाभ नहीं है। नयी बात खोजना और कहना ही मौलिकता नहीं है, उसके प्रस्तुतीकरण के ढंग में भी नवीनता हो सकती है, यह भी मौलिकता कहला सकती है। ईमानदारी में उत्साह रहता है बेईमानी दुस्साहस है। 'क' को 'क' और 'ख' को 'ख' कहना ही ईमानदारी है। इसके विपरीत कहना बेईमानी है। मुझे स्मरण है कि एक बार मेरे एक मित्र दीक्षान्त में मेरा गर्म कोट पहन कर कहीं चले गये। मार्ग में मेरे एक मित्र से जो उनको भी जानते थे उनकी भेंट हो गयी। उन्होंने कोट

को पहचान कर कहा—'यह कोट तो सरनामसिंह का है' उन्हें यह सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये था, किन्तु उन्होंने इसको झुठला कर कहा 'नहीं यह तो मेरा ही है।' एक बार अनायास ही उन दोनों की भेंट मेरे घर पर हो गयी और अपने झूठ के सम्बन्ध में मेरे वर्मी मित्र को सिर नीचा करना पड़ा। बिल्कुल ऐसी ही दशा साहित्यिक चोरों की होती है। अनुसंधाता को ऐसी चोरी कदापि नहीं करनी चाहिये। वह अपनी ऐसी चोरी को अधिक से अधिक उस समय तक छिपा सकता है जब तक कि उसका शोध प्रबन्ध प्रकाशित न हो। प्रकाशित होने पर तो उसका भण्डा फूटे बिना रह नहीं सकता।

चोरी मौलिकता का अंग होसकती है, मौलिकता नहीं हो सकती। सहायक ग्रन्थों से दूसरों के मत लेकर सामग्री के रूप में उनका ईमानदारी से उपयोग किया जा सकता है और साथही मौलिकता को सुरक्षित भी रखा जा सकता है। दो मकानों में एक ही सामग्री प्रयुक्त होने पर भी दोनों के रूप-निर्माण में मौलिक भेद हो सकता है। ऐसा ही भेद दो मतों के प्रस्तुतीकरण में भी हो सकता है। दूसरे की किसी उक्ति का उपयोग बड़े मौलिक ढंग से किया जा सकता है और ईमानदारी बरती जा सकती है। दो चित्रकार अपने हाथों से एक ही वस्तु को दो पहलुओं में व्यक्त करके अपनी अपनी मौलिकता का दावा कर सकते हैं। शोध-कर्ता भी अपनी कृति के किसी भी प्रकरण में ऐसी मौलिकता ला सकता है। इसे ईमानदारी की मौलिकता कहते हैं। यही वास्तविक मौलिकता होती है। बेईमानी से अर्जित मौलिकता बहुरूपिये का रूप होता है जिसे वह सर्वत्र एवं सर्वदा नहीं छिपा सकता।

इस चोरी से एक बड़ी भारी हानि यह भी होती है कि लेखक अधिकाधिक सामग्री लेने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। 'मालेमुफ्त दिले बेरहम' की उक्ति ऐसी ही स्थिति में चरितार्थ होती है।

उद्धरण

कोशों में उद्धरण के अर्थ निकालना, बताना, प्रस्तुत करना, उठाना, आगे बढ़ाना आदि मिलते हैं। अंग्रेजी में इसके लिए कोटेशन (Quotation) शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है 'मूल्य बतलाना'। अनुसंधान के प्रसंग में इसका तात्पर्य किसी कवि लेखक या पात्र की उस उक्ति से होता है जिसका उपयोग अनुसंधाता तथ्य प्रस्तुतीकरण, तथ्य स्थापन एवं मत-निरूपण के लिए करता है। कभी-कभी भूमिका और निष्कर्ष में भी उद्धरणों का उपयोग कर लिया जाता है।

आवश्यकता

शोध-प्रबन्ध में उद्धरणों की आवश्यकता को अतिविस्तार के साथ कहने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसमें यदि प्रामाणिकता लायी जा सकती है तो उद्धरणों से ही। सच तो यह है कि उद्धरणों के बिना शोध-प्रबन्ध का

काम चल ही नहीं सकता। उद्धरणों का रूपान्तर या भावान्तर किया जा सकता है किन्तु उनकी आवश्यकता का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। उद्धरणों के अविकल पाठ को अपने शब्दों में व्यक्त करके सन्दर्भ में उसकी सूचना दे देना भी उनकी आवश्यकता का प्रमाण है।

आकार

शोध-प्रबन्ध में दिये जाने वाले उद्धरणों के आकार के सम्बन्ध में कोई नियम या सिद्धान्त नहीं है। प्रबन्धों में बड़े और छोटे, सभी प्रकार के उद्धरण दिये जाते हैं। उनका आकार स्थानीय आवश्यकता से सम्बन्धित होता है। उद्धर्ता की रुचि और कुशलता से भी उसका स्वरूप बाँधा जा सकता है। फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि किसी भी उक्ति को अविकल रूप में ग्रहण करना ही उद्धरण है। 'अविकल' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि रचना में जितना कहा है उस सबको ग्रहण कर लेना ही 'अविकल' ग्रहण है, दूसरा यह कि किसी की उक्ति का जितना अंश लिया जावे उसको अपरिवर्तित रूप में लिया जावे। इसको अविकल ग्रहण कह सकते हैं। दूसरा अर्थ ही तर्क-सम्मत प्रतीत होता है क्योंकि प्रथम अर्थ के प्रकाश में जितना ही बड़ा उद्धरण हो सकता है जिसका समावेश शोध-प्रबन्ध में कई बार असम्भव हो सकता है।

उद्धरणप्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। शोध-प्रबन्ध की काया को बढ़ाने के लिए नहीं। जिन उद्धरणों से प्रबन्ध को स्थूल करने का प्रयत्न किया जाता है वे अपनी महत्ता को खो बैठते हैं। उद्धरण वहीं दिये जाते हैं जहाँ उनकी आवश्यकता समझी जाती है। विषय के विस्तार में उनका उपयोग किया जाता है। अमुक उद्धरण को अमुक स्थान पर देना है, ऐसा निर्णय पहले से करना सर्वथा सम्भव नहीं है। उसका निर्धारण प्रकरण या प्रसंग की आवश्यकता के अनुसार ही किया जाता है। विषय को विस्तार देने के लिए प्रकरणों में एक क्रम की व्यवस्था करनी पड़ती है और प्रकरण के अनुरूप सामग्री का ही उपयोग किया जाता है। अध्याय-विशेष के लिए संकलित सामग्री में प्रकरण विशेष से सम्बन्धित अनेक उद्धरण हो सकते हैं, किन्तु उनमें से अधिक उपयुक्त को ही प्रायः चुना जाता है।

बहुत बड़ा उद्धरण देना कोई अच्छी बात नहीं है। उद्धरण किसी उक्ति का उससे अधिक उपयुक्त अंश होना चाहिये। 'नावक के तीर' का काम करने पर ही उद्धरण की उपयुक्तता सिद्ध होती है। 'अतिलघु' उद्धरण देने की चेष्टा भी कभी-कभी सार्थक नहीं होती। जिससे अभिप्राय व्यक्त न हो उसे ऐसे छोटे उद्धरण का देना भी समीचीन नहीं होता। उद्धरण के प्रयोजन में 'साँप मरे न लाठी टूटे' की उक्ति चरितार्थ होनी चाहिये। अतिस्थूलता और अतिलघुता से मुक्त उद्धरण का समुचित अंश ही उपयुक्त होता है। शोध-प्रबन्ध में उद्धरण की उपयुक्तता को ध्यान में रखना

चाहिये। उद्धरण का स्थानोपयोगी प्रयोग ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है। प्रसंग परम्परा में हमारे किसी वाक्य के सबल का निर्वाह एवं तर्क का पोषण करने वाला उद्धरण तो उपयुक्त होता ही है, साथ ही वह उद्धरण भी उपयुक्त होता है जो किसी तथ्य को प्रस्तुत करके व्याख्यान को प्रेरित एवं प्रसंग या प्रकरण को सम्बन्धित करता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अधिक उद्धरण भी शोध-प्रबन्ध के मूल्य को घटाते हैं। उद्धरणों की अधिकता से तथ्य-व्याख्या का प्रवाह टूट जाता है। सहायक ग्रन्थों के उद्धरणों को तो कुछ शोधकर्ता अपनी शक्ति के साथ इस प्रकार व्यवस्थित कर लेते हैं कि प्रवाहान्तर या प्रवाह-बाधा की प्रतीति नहीं हो पाती। मूल के उद्धरणों को व्यवस्थित करने में भी इस कौशल का उपयोग किया जाता है, किन्तु पद्योद्धरणों में विशेष कौशल के अभाव में तथ्याख्यान बुरी तरह बाधित हो जाता है जो बुरा लगता है। प्रबन्ध को इस प्रकार के दोष से मुक्त रखना चाहिये।

अपनी बात को पुष्ट करने के लिए उद्धरण देना आवश्यक है किन्तु 'अति' सर्वत्र वर्जित है। कुछ शोधार्थी अपनी एक पंक्ति के बाद ही एक लम्बा उद्धरण दे देते हैं। यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वे अध्ययन को पचा नहीं पाते हैं। इससे वे उद्धरणों से ही अपनी बात बनाते हैं। हर दो तीन पंक्तियों के बाद एक उद्धरण ऐसी ही स्थिति की सूचना देता है। प्रबन्ध को उद्धरणों की प्रदर्शनी बनाना अनुसन्धाता का लक्ष्य नहीं होता है और न प्रबन्ध की काया को अतिस्थूल बनाना ही उसका प्रयोजन होता है, वरन् उसका लक्ष्य उसके द्वारा तथ्य-स्थापन एवं मत-पुष्टि होना चाहिये। उद्धरणों की वृद्धि से सन्दर्भ-संख्या भी बढ़ती है, अतएव प्रबन्ध की काया को स्थूलता से बचाने के लिए कभी-कभी विवेचन और आलोचन को यथोचित स्थान नहीं मिल पाता।

अवसर

इस प्रकार उद्धरणों के लिए चार अवसर होते हैं—तथ्य-प्रस्तुतीकरण, तथ्य स्थापन एवं तथ्यालोचन, मत-निरूपण एवं निष्कर्ष। तथ्य-प्रस्तुतीकरण में उद्धरणों द्वारा तथ्य सामने लाये जाते हैं। उनका प्रयोजन तथ्यों का परिचय देना है। तथ्य-स्थापन में तथ्यों की पुष्टि एवं उनके विभिन्न पहलुओं का परीक्षण किया जाता है। परीक्षण के पश्चात् मत प्रस्तुत किया जाता है और भ्रामक एवं अशुद्ध या दुर्बल मतों का खंडन करते हुए अपने मत की साधारण पुष्टि की जाती है। इन सभी में उद्धरणों की आवश्यकता होती है।

तथ्य प्रस्तुत करने के लिए कभी-कभी बड़े उद्धरण देने की आवश्यकता हो जाती है किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता। ये उद्धरण भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रासंगिक और दूसरे आनुषंगिक। प्रासंगिकों का कार्य आनुषंगिकों का पथ-दीप्त करना है। यह

संख्या में अपेक्षाकृत कम होते हैं। कभी-कभी तो एक-दो प्रासंगिकों से ही काम चल जाता है किन्तु प्रामाणिकों से तथ्य प्रस्तुत होते हैं। अतएव उनकी संख्या किसी प्रकरण की एक ही तथ्य-परम्परा में संकलित होती है। तथ्य-परम्परा जितनी विस्तृत होगी संकलित उद्धरणों की संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक उद्धरण सहायक ग्रन्थों से भी लिये जा सकते हैं किन्तु प्रामाणिक उद्धरण प्रायः विवेच्य ग्रन्थ से ही संकलित होते हैं।

तथ्य-स्थापन या तथ्यालोचन में संकलित उद्धरण प्रायः सहायक ग्रन्थों से लिये जाते हैं, किन्तु विवेच्य ग्रन्थों में से प्रस्तुत किये गये तथ्य उन्हीं में से लिये गये अन्य उद्धरणों द्वारा स्थापित और आलोचित हो सकते हैं। ऐसे उद्धरणों की संख्या कभी-कभी अधिक भी हो सकती है। उनमें से बहुत से उद्धरण मत-निरूपण का आधार बन जाते हैं। फिर भी मत-निरूपण के लिये इतर उद्धरणों की आवश्यकता होती है। मत-निरूपण उद्धरण भी अधिकांशतः मूल ग्रन्थों से संकलित होते हैं। इनके खंडनात्मक और मंडनात्मक दो स्वरूप दिखायी देते हैं। किसी नये मत की स्थापना दूसरों से स्थापित किन्तु दूषित या भ्रामक मत के खंडन के बिना नहीं हो सकती। इसलिए खंडनात्मक उद्धरणों का स्थान प्रमुख माना जाता है। 'खंडन के लिये उद्धरण दीजिये' यह मत उद्धरण के महत्त्व में बहुत प्रचलित है किन्तु कुछ विद्वान् केवल मत-स्थापन को ही प्रामुख्य देते हैं। मत-स्थापन की यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि इसमें अनुसन्धाता केवल अपनी बात कह सकता है दूसरों द्वारा कही हुई बात पर विचार करने का अवसर नहीं रहता। वस्तुतः उक्त अवस्था में दोनों प्रकार के उद्धरणों की आवश्यकता होती है।

तथ्य-स्थापन तथा मत-निरूपण के पश्चात् शोध-कर्ता प्रकरण या अध्याय में कहीं किसी निष्कर्ष पर जा पहुँचता है जो तत्सम्बन्धी विवेचन का सार होता है। यों तो निष्कर्ष किसी भी प्रकरण में हो सकता है किन्तु अध्याय और शोध-प्रबन्ध के अन्त (उपसंहार) में तो होना ही चाहिये। निष्कर्ष के लिए उद्धरण उतने आवश्यक नहीं होते जितने अन्य स्थलों पर।

जो उद्धरण प्रबन्ध का मूल्य घटाते हैं वही अनुपयुक्त स्थान पर पहुँच कर अपनी शक्ति को तो खो ही बैठते हैं, प्रबन्ध के गौरव को भी गिराते हैं। चोर या बेईमान के हाथों में पहुँचकर भी उद्धरण प्रबन्ध के मूल्य को बढ़ा नहीं पाता। चोरी से उद्धरण की दुर्गति तो हो ही सकती है, चोर भी निन्दा से नहीं बच सकता। साहित्यिक शोध-प्रबन्धों में चोरी प्रायः सहायक ग्रन्थों के उद्धरणों की होती है। अतएव उद्धरणों को मनोगति से बचाना चाहिये।

यह तो कहा ही जा चुका है कि साहित्यिक शोध-प्रबन्धों में दो प्रकार के ग्रन्थों से उद्धरण दिये जाते हैं—विवेच्य ग्रन्थों से और सहायक ग्रन्थों से। जिस प्रकार विवेच्य ग्रन्थ मुद्रित एवं अमुद्रित दोनों प्रकार के हो सकते हैं उसी प्रकार सहायक ग्रन्थ भी। अमुद्रित एवं अप्रकाशित ग्रन्थों से दिये गये उद्धरणों की शुद्धता की परीक्षा कुछ कठिन होती है, किन्तु उनको ग्रहण करते समय बड़ी सतर्कता बरतनी चाहिये। प्रमाद और लोकापचारिता दोनों से ही अनिष्ट हो सकता है। शब्द के एक अक्षर के इधर उधर होने से उद्धरण का अर्थ हाथ से चला जाता है और भ्रामक बन कर कभी-कभी वह दुःखद बन जाता है। पाठशोधन में तो और भी अधिक सतर्कता आवश्यक है क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रायः हस्तलिखित प्रतियों से होता है जिनके लिए लिपि-विशेषज्ञता एवं भाषा-वैज्ञानिक आधार की भी आवश्यकता होती है।

विवेच्य ग्रन्थों की दृष्टि से भी उद्धरण दो प्रकार के होते हैं—प्रमुख और गौण। प्रमुख उद्धरणों को प्रबन्ध के कलेवर में देना चाहिये किन्तु ऐसे उद्धरण जिनका विवेचन अभीष्ट नहीं है पर उनकी आवश्यकता विवेचन की पुष्टि के लिए समझी जाती है गौण होते हैं और उन्हें पाद-टिप्पणी में [illegible] के साथ स्थान दिया जाता है। वे पृथक भी रह सकते हैं और एकत्र भी। जब वे पृथक रहते हैं तब वे प्रत्येक पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में रहते हैं अन्यथा अध्याय या प्रबन्ध के अन्त में दिये जाते हैं। पहली पद्धति में लेखक को सुविधा होती है और दूसरी में जिज्ञासु या पाठक को।

कभी-कभी शोध-प्रबन्ध में एक ही साथ अनेक उद्धरण अपेक्षित होते हैं। उनको किसी क्रम से व्यवस्थित करके १ २ ३ या क ख ग घ के रूप में संख्या-निबद्ध कर देना ही उचित होता है। एक साथ आने वाले उद्धरणों के नियोजन के सम्बन्ध में और दृष्टियाँ हो सकती हैं जिनमें प्रमुख हैं—पूर्वापरता, गुरुता तथा उद्धरणों में आये हुए वर्णों का अनुक्रम। डा० सत्यव्रतसिंह द्वारा दिया हुआ उद्धरण-विधियों का विवेचन मुझे बहुत पसन्द आया है। उनकी विवेचना इस प्रकार है 'यदि हम साथ ही अनेक उद्धरण देते हों तो उनके क्रम के विषय में तीन विधियाँ हो सकती हैं १ देश-काल के क्रम से २ महत्त्व की उत्कृष्टता के क्रम से तथा ३ वर्णानुक्रम से। यदि हम एक पुस्तक से अनेक उद्धरण देते हैं तो ठीक यही है कि उनके स्थान क्रम का निर्देश किया जाय। उदाहरणार्थ यदि

सूरसागर के प्रथम पंचम और दशम स्कंधों के उद्धरण देते हैं तो इसी क्रम से उनकी नियोजना होनी चाहिये परन्तु, यदि अनेक वाक्यों या वाक्यांशों के समर्थन में एक साथ ही अनेक उद्धरण दिये जा रहे हैं तो उन वाक्यों या वाक्यांशों के क्रम से उनका विनियोग करना चाहिये। अनेक कालों में रची गई कृतियों के एक साथ उद्धरण देते समय काल-क्रम का ध्यान रखना उचित है। यदि 'नृपवंश', 'रघुवंश' और 'रामचन्द्रिका' से एक साथ ही उद्धरण देने हों तो इसी क्रम से देने चाहिये। ऐतिहासिक अध्ययन में अथवा किसी साहित्यकार, साहित्यिक प्रवृत्ति या साहित्यिक विधा के विकास के अनुशीलन में तो काल क्रम का ध्यान रखना परमावश्यक है। इस विषय में कठिनाई यह है कि प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य के बहुत से ग्रन्थों का काल-निर्णय संभव नहीं है। आधुनिक युग की बहुत सी रचनाओं का काल-क्रम निर्धारित करना भी कठिन है। बहुत सी रचनाएँ ऐसी हैं जो अपने रचना-काल से बहुत समय बाद प्रकाशित हुई और बाद की रचनाएँ पहले ही प्रकाशित होगई थी। बहुत सी कृतियों का रचना-काल और प्रकाशन काल उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन-काल से ही काम चलाना चाहिये किन्तु ऐसी भी पुस्तकें दृष्टिगोचर होती हैं जिन में प्रकाशन-काल संस्करण आदि का कोई उल्लेख नहीं है। यथासंभव उनका पता लगाना चाहिये। असंभव होने पर व्यर्थ मुसीबत नहीं करनी चाहिये। हाँ ग्रन्थ-सूची में इस बात का उल्लेख अवश्य कर देना चाहिये कि उक्त पुस्तक पर प्रकाशन का सन्-संवत् नहीं दिया गया है। दूसरी विधि पहली की अपेक्षा सरल है परन्तु उसमें भी एक कठिनाई है। सभी उक्तियों के महत्त्व का निश्चित रूप से निर्धारित करना सुसाध्य नहीं है। तीसरी विधि सरलतम है। अत : पहली दो विधियों के समुचित पालन में असमर्थ होने पर तीसरी विधि का अनुसरण करना चाहिए। जिस किसी भी विधि का अनुसरण किया जावे पूरे शोध-प्रबन्ध में उसी का निर्वाह होना चाहिये।"

यदि किसी कथन की पुष्टि या निरसन में आपको बहुत से उद्धरण समीचीन प्रतीत होते हैं तो सर्वोत्तम एक या दो तीन उद्धरण देकर शेष के लिए "और भी देखिये" लिख कर अन्य उद्धरणीय स्थलों के सन्दर्भ दे दीजिये। यदि पाद टिप्पणी में क्रमशः दिये जाने वाले सन्दर्भों के बीच में कोई उद्धरण देना है तो उसका सन्दर्भ देने के बाद वक्र कोष्ठ में उद्धरण देते हुए क्रमानुसार अपने सन्दर्भ देते जाइये। यदि अध्येतव्य रचना की किसी पंक्ति के मूल पाठ अथवा उसकी समस्त पंक्ति का उद्धरण देना हो तो जिस वाक्य का अन्त पर पाद टिप्पणी दी जा रही है उसके अनुसार ही अपने आलोच्य रचना का उद्धरण दीजिये। स्पष्टीकरण के लिए प्रथम उद्धरण के बाद लिख दीजिये 'मिलाकर देखिये' अथवा 'तुलना करो' देखिये —। "टिप्पणी के स्थान पर तुलनीय पंक्तियाँ उद्धृत कर दीजिये। यदि किसी उद्धरण पर कोई टिप्पणी देनी है तो उद्धरण के पूर्व, पश्चात् या दोनों ओर औचित्यानुसार दी जा सकती है।

उद्धरण और अनेक लिपियाँ

शोध-प्रबन्ध में अनेक लिपियों का समावेश करना न तो सुकर है और न उपयुक्त ही है। हो सकता है कि प्रबन्ध-लेखक अनेक लिपियों को जानता हो किन्तु टंकण और पाठकों से सम्बन्धित असुविधा को नहीं भुलाया जा सकता। यदि टंकण की कठिनाई पर व्यय से काबू पा लिया जाये तो पाठकों की कठिनाई पर काबू पाना बहुत दुष्कर है। कभी-कभी एक पाठक एक ही लिपि से परिचित होता है। प्रबन्धगत सभी लिपियों से सभी पाठकों की अवगति बहुत संभव नहीं है। ऐसी दशा में बहुलिपि शोध-प्रबन्ध थोड़े से पाठकों के काम की वस्तु ही रह जाता है। इससे ज्ञान का विस्तार-बाधित होता है। अतः एक साहित्यिक शोध-प्रबन्धों में ही नहीं वरन् अन्य शोध-प्रबन्धों में भी बहुलिपित्व प्रशंसनीय नहीं है। बहुत-सी लिपियों के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग अनुचित नहीं है। बंगला गुजराती पंजाबी उर्दू आदि भाषाओं के उद्धरण देवनागरी लिपि में दिये जा सकते हैं। इससे उपयुक्त दोनों कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं।

अन्य भाषाओं के उद्धरण

यहाँ प्रमुख प्रश्न अंग्रेजी भाषा का है। बदमनामी हुई अंग्रेजी भाषा भारत में कुछ ठहरने के लिए ही रह गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'नौकरशाही पर पले हुए अंग्रेजी सरकार अभी कई शताब्दियों तक अंग्रेजी भाषा को यहाँ से नहीं छिनने देंगे। जो हो एक समझौता करना होगा। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी से अपना सम्बन्ध एक झटके में तोड़ना भी तो कल्याणप्रद नहीं है। शोध की बहुत सी सामग्री अंग्रेजी के माध्यम से हमारे पास आती है। उस सबके हिन्दी अनुवाद से काम चला लेना अधिक उपयुक्त नहीं है। अतः अंग्रेजी के उद्धरण रोमन लिपि में दिये जा सकते हैं। 'इसका एक दूसरा कारण भी है। देवनागरी लिपि में विभिन्न भारतीय भाषाओं के उद्धरणों को पढ़ने और समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती किन्तु देवनागरी लिपि में विभिन्न अंग्रेजी के विषय में कठिनाई का अनुभव होगा।"

क्या दूसरी भाषाओं के उद्धरण देते समय उनका हिन्दी-अनुवाद भी शोध-प्रबन्ध में दे देना चाहिये? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उनका हिन्दी-अनुवाद दिया जा सकता है किन्तु ऐसे उद्धरण बहुत थोड़े होने चाहिये। अन्य भाषाओं के उद्धरणों का हिन्दी-अनुवाद प्रबन्ध के अंग में और मूल उद्धरण पाद-टिप्पणी में देना ही सर्वोत्तम पद्धति है। इससे प्रबंध-गत भाषा की प्रवाह-परम्परा टूटने नहीं पाती और उस भाषा को न जानने वाले पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी पद्धति इसके विपरीत है अर्थात् मूल उद्धरण को प्रबन्ध के अंग में देकर उसके अनुवाद को पाद-टिप्पणी में दिया जाता है। इससे दूसरी भाषा के न जानने वाले पाठक को

---

* प मिश्र ७२

पढ़ने-पढ़ने सहसा एक झटका सा लगता है। सरलता की दृष्टि से इस पद्धति को दूसरा स्थान दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त दो पद्धतियाँ इस सम्बन्ध में और भी बतलाई जाती हैं, किन्तु उनका उपयोग बहुत कम होता है क्योंकि वे प्रबन्ध की शोभा को सुरक्षित नहीं रख पाती हैं। उनमें से एक तो यह है कि उद्धरण और अनुवाद दोनों ही प्रबन्ध के अन्त में दे दिये जायें और दूसरी यह कि दोनों को पाद-टिप्पणी में दिया जाये।

यह तो स्पष्ट बताया ही जा चुका है कि उद्धरणों के मूल स्रोत हस्तलिखित प्रतियाँ अथवा टंकित या मुद्रित रचनाएं हैं। कभी-कभी दूसरों की अलिखित बातों को भी उद्धृत कर लिया जाता है किन्तु प्रमाणों के अभाव के कारण उसका शोध-प्रबन्ध में विशेष मूल्य नहीं होगा। अतएव दो प्रकार के उद्धरण मौलिक ही विशेष महत्त्व के हैं। वैसे तो टंकित और मुद्रित ग्रन्थों में भी अशुद्धियाँ हो जाती हैं, किन्तु हस्तलिखित प्रतियों में अशुद्धियाँ प्रायः हो जाती हैं, फिर भी ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। इन दोनों स्रोतों से लिये हुए उद्धरणों में निम्नलिखित कारणों से परिवर्तनों या अशुद्धियों को स्थान मिल जाता है —

१ *प्रतिलिपिकार और उद्धर्ता के प्रमाद से।*

२ संशोधन-प्रयास से।

३ टंकणकर्ता के प्रमाद से।

४ प्रेस वालों के प्रमाद से।

५. साम्प्रदायिक पक्षपातों से।

टंकण या मुद्रण की अशुद्धियाँ तो संशोधनीय होती हैं, जैसे 'राम' के स्थान पर 'राम' 'पतत्' के स्थान पर 'पतन्'। फिर भी संदिग्ध की स्थिति में संशोधन करना उचित नहीं है। पाठशोधन से सम्बन्धित उद्धरणों में कभी-कभी संशोधन का प्रश्न बहुत व्यापक सिद्ध होता है। अनुसन्धाता को शोध-प्रबन्ध में शुद्धता का ध्यान तो सर्वत्र रखना पड़ता है किन्तु दूसरों की कृतियों से लिये हुए उद्धरणों में विशेष सतर्कता अपेक्षित होती है। उद्धरण के मूल की सुरक्षा अनिवार्य है। उसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन के प्रयत्न को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिये। कभी-कभी ग्रन्थकर्ता के प्रमाद, मत या सिद्धान्त से सम्बन्धित अशुद्धियाँ ग्रन्थ में आ घुसती हैं, जैसे शंकर का विशिष्टाद्वैतवाद। इस प्रकार की अशुद्धियाँ लेखक के प्रमाद या अज्ञान के कारण ही हो सकती हैं। *प्रमादजन्य अशुद्धि को पहचानना दुष्कर नहीं है। उसका संशोधन किया जा सकता है* और संशोधित रूप में उद्धरण दिया जा सकता है, किन्तु जहाँ अज्ञानजन्य अशुद्धि दृष्टिगोचर हो जिसका पहचानना कठिन नहीं है, वहाँ से उद्धरण लेना उचित भी नहीं है। ऐसे मत व्यक्ति की उक्ति उद्धरणीय नहीं मानी जानी चाहिये।

उद्धरणीय उक्ति वही होती है जिसमें अपनी मौलिक शक्ति हो और जो लेखक की खोज या विवेचना को भी शक्ति प्रदान कर सके। जिस उक्ति में क्षमता न हो उसका

उपयोग शोध-प्रबंध में न करना ही अच्छा है। क्षमता की परीक्षा प्रतिपादन के स्थानीय मूल्य से करनी होती है अन्यथा प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक उक्ति कारयित्री नहीं होती। इसी का उद्धरण की उपयुक्तता भी कहते हैं। अनुपयुक्तता दो प्रकार की होती है—एक तो स्थानीय और दूसरी अस्थानीय। जो उक्ति स्थानीय अनुपयुक्तता प्रकट करती है उसका उपयोग संभवतः अन्यत्र किया जा सकता है, किन्तु जिस उक्ति में अज्ञान के कारण अनुपयुक्तता समाविष्ट हुई है उसका उपयोग कहीं नहीं किया जा सकता। वह अनुद्धरणीय होती है। फिर भी किसी प्रसंग में ऐसी उक्ति का उपयोग उसके खंडन के लिए या उसमें निहित अज्ञान के प्रकट करने के लिए किया जा सकता है। प्रतिपादन सामर्थ्य के निमित्त ऐसी उक्ति के उद्धरण के संबंध में सावधानी अपेक्षित है।

प्रमाद के कारण मात्रा अक्षर या शब्द में संशोधित किसी अशुद्धि का संशोधन तो सम्भव हुआ है किन्तु अक्षमता के कारण हुई सभी भूलें संशोधनीय नहीं होती हैं। उदाहरण के लिए 'रामानुज के अद्वैतवाद' को 'शंकर के अद्वैतवाद' में शुद्ध किया जा सकता है किन्तु कुछ ऐसी उक्तियाँ जैसे—"शंकर के अद्वैतवाद में आत्मा की आविर्भाव और तिरोभाव शक्ति का प्रमुख स्थान है" कदापि उद्धरणीय नहीं है क्योंकि इनके संशोधन का तात्पर्य है इनका भाव-परिवर्तन करना। ऐसी अशुद्ध उक्तियों को उद्धरणों से दूर रखना ही उचित होता है।

अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से प्रयुक्त उद्धरणों का उपयोग भी शोध-कर्ता अपने प्रबन्ध में कर सकता है, किन्तु उसकी शुद्धि की परीक्षा कर लेनी चाहिये उसके मूल को देख लेना चाहिये अन्यथा अशुद्धि की संभावना बनी रहती है। मूल को बिना देखे हुए ऐसी उक्ति के उद्धरण का कोई भी प्रयास अशुद्धि की संभावना को और भी बढ़ा देता है। उद्धरण को लेने के लिए उसकी परीक्षा करनी चाहिये और भ्रम से मुक्त होने के लिए उसे छोड़ देना चाहिए। यदि वह उक्ति छोड़ने योग्य न हो तो समुचित सन्दर्भ देकर ही उद्धृत करना चाहिये। इससे शोधार्थी बेईमानी के कलंक से तो बच ही जाता है, साथ ही वह अशुद्धि के उत्तरदायित्व से भी मुक्त हो जाता है।

चिह्न

उद्धरण-चिह्न उन चिह्नों को कहते हैं जो शोध-प्रबन्ध के लेखक की उक्ति से उद्धरण का पार्थक्य सूचित करते हैं। ये उद्धरण के आदि और अन्त में उनके अल्प विरामों के रूप में लगाये जाते हैं। ये चिह्न सब उद्धरणों के साथ अनिवार्य नहीं होते। शोध-प्रबन्धों में उद्धरणों के प्रायः तीन रूप दृष्टिगोचर होते हैं—वे उद्धरण जो प्रबन्ध के बीच में दिये जाते हैं, वे जो पाद-टिप्पणी में दिये जाते हैं और वे जो अध्याय या प्रबन्ध के अन्त में एक साथ दिये जाते हैं। गद्य और पद्य के संबंध में इन सभी के दो रूप होते हैं। गद्य का कोई भी उद्धरण प्रायः पूर्ण वाक्य से छोटा नहीं होता है। वैसे तो पद्य के उद्धरण में

भी पूरे वाक्य की सम्पूर्णता निहित रहती है, किन्तु उसका पूर्ण वाक्य होना अनिवार्य नहीं है। इसलिए पद्य के उद्धरणों में विरोधी ढंग पड़ता अधिक जैसे उद्धरण भी दिखाई देते हैं। गद्य के उद्धरणों की अपेक्षा पद्य के उद्धरण अधिक प्रसिद्ध और प्रचलित होते हैं।

प्रबन्ध के बीच में दिये जाने वाले उद्धरण दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो अनुच्छेद के अंग होते हैं और दूसरे वे जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता या पार्थक्य व्यक्त करते हैं। जो उद्धरण अनुच्छेद के अंग होते हैं वे चाहे पद्य के हों या गद्य के उल्टे अल्प विरामों में आबद्ध होते हैं। ऐसे उद्धरण प्रायः बहुत छोटे होते हैं। दूसरे प्रकार के उद्धरण अनुच्छेद से पृथक होते हैं। इनमें से गद्य के उद्धरणों को तो उल्टे अल्प विरामों में ही बन्द किया जाता है, किन्तु पद्य के उद्धरणों को इनसे मुक्त रखा जाता है। प्रबन्ध में दो पंक्ति का दोहा भी दो अनुच्छेदों के मध्य में अपना पार्थक्य को अक्षुण्ण रखता है, अतः एव पद्योद्धरण को किसी चिह्न के बंधन में डालने में कोई तुक नहीं दिखाई देती।

पाद-टिप्पणी अथवा अध्याय या प्रबन्ध के अन्त में दिये गये उद्धरणों को भी उल्टे अल्प विरामों में बन्द नहीं किया जाता।

आवृत्ति

कई बार एक ही उद्धरण की आवश्यकता अनेक अध्यायों में हो जाती है। ऐसी स्थिति में जहाँ तक सम्भव हो सके उद्धरणों को आवृत्ति-दोष से बचाना ही उचित है। ऐसे अवसर पर उद्धरण के सम्बन्ध में पूर्व अध्याय का सन्दर्भ पर्याप्त होता है। अत्यावश्यक होने पर एक ही उद्धरण को कई स्थानों पर भी दिया जा सकता है किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि आवृत्ति से विवेचन में सुविधा और विषय-प्रतिपादन में स्पष्टता और शक्ति आने की सम्भावना हो। अनावश्यक उद्धरणों की आवृत्ति से प्रबन्ध का महत्व घटता है।

सन्दर्भ—क्या और क्यों ?

सन्दर्भ का अर्थ सम्बन्ध निर्दिष्ट स्रोत या बोध है। अंग्रेजी में इसको 'रेफरेंस' कहते हैं। इससे किसी उद्धरण या उक्ति के स्थान स्थानीय सम्बन्ध और उसकी पूर्वापरता की सूचना मिलती है। सन्दर्भ किसी शोध-प्रबन्ध की सामग्री को प्रमाणित करते हैं। वे यह भी बतलाते हैं कि अमुक उद्धरण का अमुक स्रोत है और वह अमुक ग्रन्थ या लेख में अमुक स्थान पर उपलब्ध है। इसी कारण सन्दर्भ-संकेत शोध-प्रबन्ध का आवश्यक अंग है। शोध प्रबन्ध में कोई भी निराधार बात न तो कही जाती है और न उद्धृत की जाती है। शोध कर्ता को इस बात का स्मरण सदैव रखना चाहिये। आधार का तात्पर्य है उद्धृत उक्ति जो अपनी भी हो सकती है और किसी दूसरे विद्वान की भी। 'अपनी उक्ति' से द्विविध बोध ग्रहण करना चाहिये—समालोच्य कृति में लेखक की उक्ति तथा लिखे जाते हुए प्रबन्ध के लेखक की पूर्वोक्ति। अपनी ऐसी उक्तियों या किसी दूसरे की उक्तियों को उद्धरण-रूप

में देने पर संदर्भ आवश्यक होते हैं। संदर्भों के बिना प्रमाण अपूर्ण ही रहते हैं, जिससे ज्ञान-विस्तार नहीं होता। संदर्भों से जिज्ञासुओं को बहुत लाभ होता है।

शोध-प्रबन्ध किसी सामान्य ग्रन्थ से भिन्न होता है, मूलतः इसीलिए कि शोध-प्रबन्ध की कोई भी महत्वपूर्ण बात प्रामाणिक होती है। उसमें संदर्भ होते हैं। सामान्य ग्रन्थों तक का मूल्य भी संदर्भों से बढ़ जाता है, फिर शोध-प्रबन्धों का तो कहना ही क्या ? संदर्भ उनकी तो आवश्यकता होते हैं। अतएव शोध प्रबन्धों को प्रामाणिकता देने और उनके मूल्य को बढ़ाने के लिए संदर्भों के मूल्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संदर्भों के संबंध में शोधकर्ता को कंजूसी नहीं दिखलानी चाहिये और न उसे आलस्य से ही काम लेना चाहिये। जिस सामग्री को शोध-कर्ता स्वयं खोजता है उसके संदर्भों के संबंध में कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु जिस सामग्री को वह दूसरे ग्रन्थों में प्राप्त करता है उसकी परीक्षा करने के लिए संदर्भ कुछ अधिक महत्व के सिद्ध हो सकते हैं।

संदर्भ किसका ?

सामान्यतः शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक उद्धरण के लिये संदर्भ अपेक्षित होते हैं। जहाँ तक हो सके उद्धरणों को दुहराया न जाये किन्तु आवश्यकता को बाधित भी न होने दिया जाये। शोध-प्रबन्ध की उपयोगिता लेखक के लिये उपाधि मिलने पर भी रहती है। पाठक के लिए उसका मूल्य बाद में ही प्रकट होता है, इसलिए उनकी सुविधा का ध्यान तो लेखक को रखना ही चाहिये। अतः संदर्भ के देने या उचित रूप से न देने से पाठक की कठिनाई बढ़ जाती है। पाठक के सामने ऐसी कठिनाई प्रस्तुत करना उचित नहीं है। जिस प्रकार उद्धरणों की पुनरावृत्ति उचित नहीं है उसी प्रकार संदर्भों की भी। कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण यदि दुहराये जा सकते हैं तो उनके संदर्भ भी दुहराये जा सकते हैं, किन्तु संदर्भ-विधि में कुछ अन्तर हो सकता है। समीपवर्ती संदर्भों का दुहराना तो किसी भी दशा में वांछनीय नहीं है।

विवेच्य ग्रन्थों के उदाहरणों के लिए भी संदर्भों की अपेक्षा होती है। कभी-कभी इन उदाहरणों को न देकर संदर्भ से ही काम चला लिया जाता है। ऐसे स्थलों पर उदाहरणों के भाव-संकेत अवश्य प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। जहाँ बहुत से उदाहरण आवश्यक प्रतीत हो रहे हों वहाँ अधिक उपयुक्त उदाहरणों को देकर शेष को संदर्भोल्लिखित कर दिया जाता है।

लेखक से सम्बन्धित प्रबन्ध या प्रबन्धेतर कृतियों में आई हुई उक्तियों के संदर्भ भी दिये जा सकते हैं और प्रबन्धेतर कृतियों में आये हुए उसके मतों के भी।

संदर्भ-स्थल

आजकल संदर्भ स्थल के संबंध में अनेक मत प्रचलित हो गये हैं। संदर्भ के लिए उपयुक्त स्थल पाद-टिप्पणी का स्थान है। इसके देखने में परीक्षक और पाठक को बड़ी सुविधा होती है, किन्तु टंकण के समय इसमें कुछ असुविधा प्रस्तुत होती है। कुछ विद्वान्

मुद्रण और संशोधन संस्करण के समय की कठिनाई का अनुमान भी करते सकते हैं और इस पद्धति को सबसे अधिक श्रेयस्कारिणी बतलाते हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि टंकित शोध-प्रबन्ध में परीक्षक की सुविधा अपेक्षणीय है और मुद्रित शोध-प्रबन्ध में पाठक की। ये दोनों सुविधाएं पाद-टिप्पणी-गत संदर्भ में ही सुरक्षित रहती हैं।

दूसरी पद्धति के अनुसार सभी संदर्भ प्रबन्ध के अन्त में एक साथ क्रमपूर्वक दिये जाते हैं। इसमें टंकण, मुद्रण और संशोधन के समय की सुविधाओं का विशेष ध्यान रखा जाता है, किन्तु परीक्षक और पाठक की महत्ता और सुविधा को भुला दिया जाता है।

तीसरी पद्धति में संदर्भ अध्याय के अन्त में क्रमानुसार दे दिये जाते हैं। इस पद्धति के गुण-दोष भी प्रायः दूसरी पद्धति से मिलते हैं। इसका अतिरिक्त गुण यह है कि संदर्भ-क्रम-संख्या अधिक न होने से वैसा भ्रम नहीं आ पाता किन्तु अतिरिक्त दोष यह है कि संदर्भ तो अध्यायों के बीच में आकर प्रबन्ध के स्वच्छ-प्रवाह को बाधित कर देते हैं।

चौथी पद्धति के अनुसार प्रत्येक संदर्भ प्रबन्ध के पाठ में ही यथास्थान दे दिया जाता है। इस पद्धति में संदर्भ देने की दो विधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो यह कि संदर्भ उद्धरण के समाप्त होते ही उसके सामने कोष्ठक में दे दिया जाता है और दूसरी यह कि उद्धरण के नीचे ही संदर्भ दे दिया जाता है। इस पद्धति में क्रम-संख्या देने की आवश्यकता नहीं होती। इससे यह पद्धति टंकण, मुद्रण और संशोधन-काल के झंझटों से मुक्त रहती है, किन्तु पाठ-प्रवाह में बाधा अवश्य डालती है।

संदर्भ-परिचय

किसी संदर्भ का परिचय अंकित उद्धरण, सारांश या मत के ऊपर से ही प्राप्त होता है। जो अंक या चिह्न उद्धरण आदि को दिया जाता है वही संदर्भ को भी। किसी उक्ति या मत को अंकित या चिह्नित करने की अनेक विधियाँ हैं। कभी किसी शब्द या नाम को जिसका संदर्भ की दृष्टि से अधिक महत्व होता है अंकित किया जाता है। कभी किसी पद या पद-समूह को कभी किसी वाक्य को और कभी अनुच्छेद या अनुच्छेदों को। इनको चिह्नित करने के लिए अनेक चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु अंकेतर चिह्नों का प्रयोग उसी दशा में उपयोगी और सुकर हो सकता है जब कि संदर्भ पाद-टिप्पणी में दिये जायें अन्यथा क्रम-संख्या का प्रयोग ही सर्वोत्तम होता है। शोध-प्रबन्धों में प्रायः संदर्भ-संख्या का ही प्रचलन है। अन्य चिह्न प्रायः सामान्य ग्रन्थों में दिये जाते हैं। फिर भी परिशिष्ट आदि में इतर चिह्नों की आवश्यकता पड़ सकती है और इच्छानुसार कोई भी टंकण-सुकर चिह्न प्रयुक्त हो सकता है। कभी-कभी (क) (ख) (ग) या क ख ग. आदि क्रम-चिह्न भी प्रयुक्त होते दिखाई देते हैं।

पाठसंशोधन में एक ही ग्रन्थ या कृति की एक ही स्थान पर अनेक प्रतियाँ उपलब्ध होने पर उनके 'क' 'ख' आदि नाम दे दिये जाते और उन्हीं नामों से संदर्भ दिये जाते हैं।

अपूर्ण संदर्भ

शोध-प्रबन्धों में पूर्ण संदर्भ से ही काम चलता है। 'देखिये भागवत, दशम स्कंध' जैसा संदर्भ किसी शोध-प्रबन्ध में नहीं दिया जा सकता। बहुत प्रसिद्ध उदाहरण अपूर्ण संदर्भ को भी पूर्ण की शक्ति दे सकता है जैसे 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'-गीता। यद्यपि ऐसा संदर्भ शास्त्रीय नहीं है, फिर भी काम-चलाऊ कहला सकता है। किन्तु 'भागवत दशमस्कन्ध' या 'महाभारत वनपर्व' जैसा संदर्भ तो सर्वथा अपूर्ण होता है। ऐसा संदर्भ शोध-प्रबन्ध में कदापि नहीं देना चाहिये।

अपूर्ण संदर्भ वह संदर्भ है जिसमें पाठक को अधिक माथा-पच्ची करनी पड़े। जिस संदर्भ के सहारे उद्धरण की खोज दुष्कर हो जाये वह गलत या अपूर्ण संदर्भ ही हो सकता है गलत संदर्भ तो खोज को 'असंभव' की सीमा तक ले जा सकता है किन्तु अपूर्ण संदर्भ कभी कभी पाठक के लिए सिर दर्द बन बैठता है। इसलिए जिस प्रकार गलत संदर्भ के संबंध में सतर्कता बरतनी चाहिये उसी प्रकार अपूर्ण संदर्भ के सम्बन्ध में भी।

संदर्भ और संख्या

यह बताया जा चुका है कि संदर्भ देने में संख्या का प्रयोग सुकर होता है। संख्या-क्रम को पृष्ठ या अध्याय तक ही सीमित न रख कर कभी-कभी पूर्ण प्रबन्ध तक प्रसारित किया जाता है किन्तु पूर्ण प्रबन्ध के अन्त में दी जाने वाली संख्या कभी-कभी चार अंकों तक की हो सकती है (और अधिक भी हो सकती है) जो टंकण या मुद्रण में कठिनाई पैदा कर देती है। अध्याय के अन्त में दी जाने वाली संदर्भ-संख्या से भद्देपन को अपेक्षाकृत कम अवकाश मिलता है। पृष्ठगत संख्या-क्रम अधिक सुकर होता है। कभी-कभी एक प्रमुख संदर्भ में तीन-चार या कुछ न्यूनाधिक उपसंदर्भ आ जाते हैं। उनको क ख ग या (i) (ii) (iii) में संख्याबद्ध किया जाता है।

संदर्भ-स्वरूप

संदर्भ का स्वरूप निर्धारण केवल संख्या या चिह्न के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसमें आगे जो पद्धति प्रयुक्त होती है वह भी समझनी चाहिये। संदर्भ का संबंध न केवल उद्धरणों से होता है, वरन् विभिन्न ग्रन्थों से लिये हुए उदाहरणों से भी होता है। यह कहा जा चुका है कि कभी-कभी उद्धरण या उदाहरण न देकर उनकी आवश्यकता की पूर्ति संदर्भ से ही करली जाती है। इसके अतिरिक्त किसी मत या कथन के आधार के लिए भी संदर्भ आवश्यक होता है।

अधिकांश संदर्भों में क्रम-संख्या या चिह्न के बाद लेखक या कवि का नाम फिर ग्रन्थ का नाम तत्पश्चात् उसकी पृष्ठ-संख्या दी जाती है—जैसे-डा० नगेन्द्रसिंह, कामायनी-सौन्दर्य पृ० ४० । विवेचनात्मक ग्रन्थो के संदर्भ बहुधा इसी प्रकार के होते हैं, किन्तु बहुत प्रसिद्ध कृति होने पर लेखक का नाम छोड़ा जा सकता है, केवल कृति के नाम से ही काम चल जाता है जैसे 'संस्कृति के चार अध्याय' पृ० ७१ अथवा 'हिन्दी के शोध-प्रबन्ध' पृ० १ आदि ।

प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों के संदर्भ में भी केवल कृति के नाम से ही काम चल जाता है, किन्तु भिन्न-भिन्न संपादक होने पर उनका नाम देना पड़ता है जैसे—रा० च० मा० (सं० पं० ज्वाला प्रसाद शर्मा) पृ० २११ अथवा प० का० दो० ७) । यदि ऐसी किसी कृति के अनेक संस्करण होते हैं तो उनका हवाला भी देना पड़ता है, जैसे—रा० च० मा० (सं० पं० ज्वाला प्रसाद शर्मा द्वितीय संस्करण) बालकाण्ड दोहा १११ । जिस काव्य-ग्रन्थ में छंद-संख्या नहीं होती वहाँ पृष्ठ-संख्या के साथ पंक्ति-संख्या देदी जाती है, जैसे—कामायनी (द्वितीय संस्करण) पृ० ११ पं० ३-८

किसी प्रसिद्ध छोटे लेख के बड़े उद्धरण के संदर्भ में लेखक का नाम देकर लेख का नाम दे दिया जाता है, जैसे रा० च० शुक्ल 'लोभ और प्रीति' । कभी-कभी ऐसे लेख के नाम मात्र से काम चल जाता है, जैसे 'लोभ और प्रीति' । ऐसा लेख जब लेखक के किसी प्रसिद्ध संग्रह में होता है तो संग्रह का नाम और पृष्ठ दे दिया जाता है जैसे चिन्तामणि प्रथम भाग (द्वि० सं०) पृ० १७ ।

किसी पत्रिका के उद्धरण या उदाहरण का संदर्भ देते समय उसका नाम भाग (वर्ष) और पृष्ठ संख्या देनी चाहिये जैसे—ना० स० म० २ (१९९२) पृ० २१ । यदि संदर्भ किसी पत्र के संबंध में देना होता है तो उसका नाम कोष्ठक में तारीख, महीना और सन् तथा पृष्ठ और कॉलम-संख्या देनी चाहिये जैसे-साप्ताहिक हिन्दुस्तान (११ जून १९९२) पृ० २, कॉ० ४ ।

पाठ-शोध-संबंधी संदर्भों में हस्तलिखित प्रतियों के नाम व सांकेतिक से देने पड़ते हैं । कभी-कभी एक ही नगर में एक ही व्यक्ति की अनेक प्रति-लिपित प्रतियाँ मिलती हैं । उन प्रतियों को अध्ययन या विवेचन की सुविधा के लिए क० ख० आदि नाम दे दिये जाते हैं और उनके संदर्भ भी इसी प्रकार दिये जाते हैं, जैसे—बासुमती (रा० म० दि०) 'क'-प्रति पृ० ९७

इस प्रकार ग्रन्थों या पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में हम संदर्भों के दो भेद कर सकते हैं—१ मूल संदर्भ और २ सहायक संदर्भ । उन संदर्भों को मूल संदर्भ कह सकते हैं जिनका संबंध मूल ग्रन्थों से होता है और सहायक संदर्भ वे कहलाते हैं जिनको सहायक सामग्री से संकलित किया जाता है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस सामग्री के स्रोत विविध

होते हैं। अतएव संदर्भ भी विविध माने जा सकते हैं, जैसे ग्रन्थ-संदर्भ संकलित लेख-संदर्भ स्फुट लेख-संदर्भ पत्रिकागत लेख-संदर्भ तथा पत्रगत लेख या मत से संकलित संदर्भ। मूल ग्रन्थों में हस्त-लिखित प्रतियों को भी ध्यानगत रखना चाहिये।

संदर्भ देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि क्रम-संख्या के सामने लेखक का नाम फिर ग्रन्थ का नाम कोष्ठक में संस्करण आदि का हवाला फिर पृष्ठ संख्या अथवा छंद-क्रम-संख्या देना उपयुक्त होता है। कभी-कभी क्रम बदल देने से संदर्भ में भ्रामकपन आ जाता है, जैसे चिन्तामणि रामचन्द्र शुक्ल पृ० १४। यहाँ क्रम दोष है। रामचन्द्र शुक्ल के साथ ही पृष्ठ संख्या है जो वास्तव में चिन्तामणि के साथ होनी चाहिये और रामचन्द्र शुक्ल का नाम पहले दिया जाना चाहिये। यदि रामचन्द्र शुक्ल को चिन्तामणि के बाद में ही देना हो तो कोष्ठक में बन्द कर दीजिये जिससे चिन्तामणि का पृष्ठ रामचन्द्र शुक्ल के पास न जा पहुँचे।

संदर्भ-संकेत

श्रम और स्थान की बचत करने की दृष्टि से ही ग्रन्थों में संकेतों का उपयोग देखा जाता है। कुछ लोग संकेतों का उपयोग बहुत करते हैं। संकेतों का उपयोग वास्तव में बुरा नहीं है और बड़े-बड़े नामों के लिए उनका उपयोग अवश्य करना चाहिये, किन्तु छोटे नाम का सांकेतिक प्रयोग कभी-कभी भ्रम पैदा कर देता है जैसे कामायनी के लिए का संकेत का प्रयोग वांछनीय नहीं है। हाँ यदि 'कामायनी में प्रकृति वर्णन' जैसा कोई नाम हो तो 'का० प्र व' से उसको संकेतित किया जा सकता है। इसी प्रकार निराला पन्त आदि नामों के लिए 'नि' 'प' आदि संकेतों का प्रयोग अच्छा नहीं लगता। इन नामों का अविकल रूप में ग्रहण करना ही उचित है। इसी प्रकार 'कबीर' को भी पूरा लिखना चाहिये। हाँ 'कबीर ग्रन्थावली' के लिए 'क ग्र' संकेत उपयुक्त है। तुलसीदास के लिए 'तु दा' का प्रयोग अनुचित नहीं है किन्तु 'तु' का प्रयोग अवांछनीय है। इस संकेत का प्रयोग कई समय तो बहुत भ्रामक हो सकता है क्योंकि इसे 'तुलनीय' या 'तुलना' के 'तु' से टक्कर लेनी पड़ जाये। अतएव संकेतों का प्रयोग बहुत समझ-सोचकर करना चाहिये।

यह तो आरंभ में ही निश्चय कर लेना चाहिये कि अमुक शब्द नाम आदि के लिए अमुक संकेत देना है। जो संकेत इस प्रकार से निर्धारित किये जायें उनकी एक सूची तैयार कर लेनी चाहिये और फिर उसी के अनुसार संकेत-प्रयोग में एकरूपता तथा वैज्ञानिकता बरतनी चाहिये। एक ही नाम के लिए भिन्न-भिन्न संकेतों का प्रयोग वर्जनीय है।

संकेतों के अभाव में किसी नाम को बिगाड़ना उचित नहीं है। किसी संस्कृत ग्रन्थ से संकलित संदर्भ में उसकी मूल पंक्ति ही देनी चाहिए जैसे 'यस्मिन्नानयाकृत्वक,

सन्दर्भ-कंजूसी प्रमाद और चोरी

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संदर्भ का न देना बुरा है। यह हो सकता है कि कभी संदर्भ बहुत आवश्यक न हो किन्तु संदर्भ देने के संबंध में कंजूसी या प्रमाद नहीं दिखलाना चाहिये। इससे प्रबन्ध का मूल्य गिरता है, परीक्षकों को क्षोभ होता है और पाठकों को खेद होता है। कंजूसी और प्रमाद को कभी-कभी लेखक की चोरी समझ लिया जाता है। संदर्भ के देने का एक तात्पर्य यह भी है कि दूसरे के कथन या मत पर उसी का अधिकार स्वीकार किया गया है। जहाँ दूसरे की सामग्री का उपयोग करके भी संदर्भ नहीं दिये जाते उसका अभिप्राय कंजूसी और प्रमाद के अतिरिक्त चोरी या दूसरे की वस्तु पर अपना अधिकार करना है। इसलिए प्रबन्ध-लेखक को सदर्भ अवश्य देने चाहिये। वे पूर्ण हों और अपने संकेतों में एकरूपता एवं वैज्ञानिकता का परित्याग न करने पायें।

सहायता मिलती है। कभी-कभी कृतज्ञता स्तुति या प्रशंसा का रूप लेकर अपने महत्त्व को खो देती है और प्रकाशित होने पर उसका उपहास होता है। कृतज्ञता मनुष्य का गुण है किन्तु अति प्रशंसा दोष है। उससे बचना चाहिये।

२ संकेत-सूची

शोध-प्रबन्ध में इसका दूसरा स्थान होता है। इसमें उन संकेतों का विवरण होता है जो प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। इनकी व्यवस्था एक अनुक्रमणिका में की जाती है। शोध-प्रबन्ध में जो नाम अधिक स्थान घेरते हैं और जिनका प्रयोग उसमें बार बार होता है, उनके संकेत नियत करके फिर उन्हीं के प्रयोग करने से बहुत से स्थान की बचत हो जाती है। पाठक उन नामों को उस समय तक नहीं समझ सकता (अथवा समझने में कभी-कभी गलती कर सकता है) जब तक कि प्रसंग से उनका परिचय न दे दिया जाये। संकेत-सूची उन्हीं नामों का परिचय देती है।

३ विषयानुक्रमणिका

इसमें प्रकरणों और प्रसंगों का अनुक्रम होता है। उनसे संबंधित पृष्ठों की संख्या भी इस में दी जाती है। विषयानुक्रमणिका प्रायः प्राक्कथन और भूमिका से पहले दी जाती है। प्राक्कथन का रूप पूर्वनिर्दिष्ट रूप से भिन्न हो जाने पर विषयानुक्रमणिका को उसके पश्चात् भी दे दिया जाता है, किन्तु प्रस्तुत लेखक इस रूप और क्रम को उपयुक्त नहीं मानता। प्राक्कथन विषय का स्पष्टीकरण क्षेत्र पूर्वकृत कार्य आदि की सूचना देकर शोध-प्रबन्ध की कथा से अपना संबंध जोड़ लेता है इसलिए विषयानुक्रमणिका में इसका स्थान भी होना चाहिये और तब विषयानुक्रमणिका प्राक्कथन से पहले आनी चाहिये। कभी-कभी विषयानुक्रमणिका और रूप रेखा को बिल्कुल एक समझ लिया जाता है, किन्तु यह भूल है। इसमें सन्देह नहीं है कि रूप-रेखा संशोधित और विकसित होती हुई अपने उपयुक्त रूप में किसी स्थिति पर विषयानुक्रमणिका का काम भी दे देती है, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। व्याख्यात्मक रूप-रेखा विषयानुक्रमणिका का काम कदापि नहीं कर सकती। रूप-रेखा के विकास का एक इतिहास होता है किन्तु विषयानुक्रमणिका की स्वीकृति विकासमान दशा में नहीं वरन् विकसित दशा में ही हो सकती है। हाँ रूप-रेखा के संशोधित स्वरूप को उपयुक्त स्थिति में विषयानुक्रमणिका कहना भी असंगत नहीं होता। विषयानुक्रमणिका विषय के विस्तार का सम्यक् संक्षिप्त परिचय देकर ही कृतकार्य हो सकती है।

४ प्राक्कथन और भूमिका

विषयानुक्रमणिका के पश्चात् इन दोनों का स्थान नियत होना चाहिये। पहले प्राक्कथन आता है और फिर भूमिका। प्राक्कथन शब्द अंग्रेजी 'फोरवर्ड' का अनुवाद है। अंग्रेजी में 'फोरवर्ड' किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखा जाता है किन्तु 'प्राक्कथन'

के संबंध में ऐसी शर्त नहीं है। हिन्दी-शोध-प्रबन्धों में 'प्राक्कथन' प्रबन्ध-लेखक-द्वारा ही लिखा जाता है क्योंकि शोध-प्रबन्ध में लेखक के अतिरिक्त और किसी व्यक्ति को लिखने का अधिकार नहीं होता है। शोध-प्रबन्धों में पहले प्राक्कथन आता है, फिर भूमिका। कभी-कभी प्राक्कथन नहीं भी होता। ऐसी स्थिति में वह भूमिका में ही विलीन हो जाता है। इस समीकरण की प्रक्रिया बड़ी सतर्कता से सम्पन्न की जाती है। कुछ ग्रन्थों में प्राक्कथन और भूमिका के बीच में विषयानुक्रमणिका रहती है। इसमें प्राक्कथन का स्थान 'दो शब्द'-जैसा होता है।

भूमिका का स्थान

भूमिका की स्थिति शोध-प्रबन्ध में अनिवार्य है, किन्तु इसके स्थान के संबंध में विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वान् भूमिका को प्रबन्ध का प्रथम अध्याय बना लेने के पक्ष में हैं, किन्तु दूसरे कुछ विद्वान् भूमिका को अध्यायों में स्थान नहीं देना चाहते। उनका मत है कि अध्यायों में विषय से संबंधित अनेक प्रकरण और उनका अनुक्रम से व्यवस्थित किये जाते हैं। वहाँ अध्यायों का एक क्रम चलता है और विषय को उनमें क्रमिक विस्तार दिया जाता है वहाँ भूमिका को मूल विषय के अन्तर्गत समाविष्ट कर लेने से यह विषय तक जाने के लिए एक सीढ़ी का काम न करके अनधिकार चेष्टा करती है।

भूमिका और मूल विषय

प्रस्तुत पंक्ति के लेखक का भी यही मत है कि भूमिका को मूल विषय से केवल संबंधित करना चाहिये उसे मूल विषय का अंग बना लेना अधिक अच्छा नहीं है। जो हो भूमिका की आवश्यकता अविस्मरणीय है। उसके पद का निर्धारण रुचि ही कर सकती है किन्तु कौशल से उसके किसी पद को सफल सिद्ध किया जा सकता है।

अनेक अध्याय

अध्यायों की कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है किन्तु बहुत अधिक अध्यायों की स्थिति शोध-प्रबन्ध को अव्यवस्था-दोष से मुक्त नहीं होने देती है। अध्यायों की सुव्यवस्था वर्गीकरण-कौशल पर निर्भर होती है। ठीक वर्गीकरण 'गागर में सागर' भरने की शक्ति को चरितार्थ करता है। कम से कम अध्यायों में अधिक से अधिक प्रकरणों को अनुक्रम से व्यवस्थित करना भी एक कौशल है। शोध-प्रबन्ध लेखक को इस कौशल से अवश्य ही काम लेना चाहिये।

अध्यायों और प्रकरणों की व्यवस्था

अध्यायों और उनके अन्तर्वर्ती अनेक प्रकरणों की क्रमिक व्यवस्था में भी दृढ़ता की आवश्यकता होती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकरणों से विषय को विस्तार मिलता है, किन्तु प्रबन्ध में प्रत्येक प्रकरण का निश्चित स्थान होना चाहिये।

उसकी योग्यता के अनुरूप ही उसको स्थान दिया जाता है। एक प्रकरण दूसरे प्रकरण से असंबद्ध होकर अपनी योग्यता को व्यक्त नहीं कर सकता। अनुपयुक्त स्थल पर पहुँच कर वह प्रकरण केवल असंबद्ध ही नहीं रहेंगे वरन् विषय के प्रावाहिक प्रसार में भी बाधा डालते हैं। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग को दूसरे स्थान पर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार शोध-प्रबन्ध के अध्यायों और प्रकरणों की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि कोई भी अध्याय या प्रकरण इधर-उधर न किया जा सके। जिस प्रकार एक अध्याय का सम्बन्ध दूसरे अध्याय से अपेक्षित होता है उसी प्रकार अध्यायगत प्रकरणों का सम्बन्ध भी अपेक्षित होता है।

प्रकरण और तथ्य

एक-एक प्रकरण किसी तथ्य की एक-एक ग्रन्थि को खोलता है और प्रत्येक तथ्य किसी प्रकरण में अपना अनावरण करता है। साथ ही अपनी व्याख्या के साथ ही एक तथ्य दूसरे से जुड़ने का उपक्रम करता है। तथ्य के अनावरण की विशेषता यही होनी चाहिये कि वह दूसरे से सम्बन्ध जोड़ ले। ऐसे अनावरण में प्रबन्धकार का कौशल दिखलायी दिये बिना नहीं रह सकता।

अध्याय और तथ्य

प्रत्येक अध्याय अनेक तथ्यों को समन्वित रूप में प्रकट करता हुआ उनके एक-एक विशेष वर्ग का अध्ययन प्रस्तुत करता है। एक अध्याय दूसरे से जुड़ने की अभिलाषा व्यक्त करे, यह प्रबन्धकार की कुशलता पर निर्भर है। जिस प्रकार पक्की सड़क मील के अनेक पत्थरों से अपनी लम्बाई की अनेक इकाइयों को प्रकट करती हुई भी अपनी दीर्घ एकता का परित्याग नहीं करती उसी प्रकार एक अच्छा शोध-प्रबन्ध अनेक अध्यायों में विभक्त होकर भी अपनी एकता का विसर्जन नहीं कर सकता।

६ परिशिष्ट

परिशिष्ट प्रबन्ध के सम्बंध में अतिरिक्त सूचना देने में ही सहायक होता है। शोध-प्रबंध के सौन्दर्य को सुरक्षित रखने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है इसलिए कि मूल प्रबंध में किसी प्रकरण के क्रम और सौन्दर्य की रक्षा के लिए कुछ बातें जो विशेष व्याख्या या संदर्भ की अपेक्षा रखती हैं, संक्षेप में भी देनी पड़ती हैं। अध्यायों के इस अभाव को परिशिष्ट में पूर्ण किया जाता है। परिशिष्ट की सूचनाएँ एक दूसरी से संबद्ध होने की अपेक्षा नहीं रखतीं। फिर भी उनकी व्यवस्था अध्याय क्रम के अनुरूप हो तो अच्छी बात है।

७ संदर्भ

संदर्भों की आवश्यकता आदि पर अन्यत्र पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। शोध-प्रबंध को प्रामाणिक सिद्ध करना सन्दर्भों का ही काम है। इनके सहारे अध्ययन

का मूल्यांकन बड़ी सरलता से किया जा सकता है। इसके आधार पर समीक्षा के क्रम का अनुमान लगाना सरल हो जाता है। पाठक के लिए भी इसका उपयोग कुछ कम नहीं होगा। इसके द्वारा पाठक विविध ग्रन्थों से परिचित हो सकता है और उनको इसके सम्बन्ध से विविध प्रकरण-स्रोतों की अवगति होती है। शोध-प्रबंध में सामग्री और संदर्भ का चोली-दामन का संबंध है।

८ ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट के बाद, यदि सन्दर्भ एक साथ नहीं दिये जाते तो, ग्रन्थ-सूची दी जाती है। प्रबन्ध-लेखक जिन ग्रन्थों हस्तलिखित प्रतियों पत्र-पत्रिकाओं रिपोर्टों आदि से सहायता लेता है उनकी एक व्यवस्थित सूची का देना आवश्यक होता है। इसमें रचना का नाम संस्करण रचनाकार अथवा सम्पादक का नाम तथा प्रकाशक का नाम भी देना चाहिये। संस्करण के देने से प्रकाशन-काल न देने पर भी काम चल सकता है।

कुछ लोग परिशिष्ट के दो भाग करके दूसरे भाग में ग्रन्थ-सूची दे देते हैं। परिशिष्ट का शाब्दार्थ है 'छूटा हुआ' किसी ग्रन्थ का पूरक अंश। जो बात शोध प्रबन्ध की मूल काया में विस्तार या विषयान्तर के भय से सम्मिलित नहीं की जाती वह परिशिष्ट में दी जाती है, किन्तु ग्रन्थ-सूचीमें अधिकतर उन्हीं ग्रन्थों को परिगणित किया जाता है जिनका उल्लेख प्रबन्ध में किया जाता है। फिर भी उन ग्रन्थों को परिशिष्ट में सम्मिलित करना परिशिष्ट के नाम को व्यर्थ करना है। कुछ लोग ग्रन्थ-सूची को शोध-प्रबन्ध के प्रारम्भ में भी दे देते हैं, किन्तु यह प्रणाली बहुप्रचलित नहीं है। इसलिए ग्रन्थ-सूची परिशिष्ट के बाद ही दी जानी चाहिये।

ग्रन्थ सूची के दो वर्ग

ग्रन्थ-सूची के ग्रन्थों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है—(१) विवेच्य मूल या उपजीव्य ग्रन्थ तथा (२) उपस्कारक या सहायक ग्रन्थ। मान लीजिये शोध का विषय है—'आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों की मनोवैज्ञानिक पीठिका।' 'साकेत' कामायनी प्रिय प्रवास उर्वशी आदि ग्रन्थ मूल विवेच्य, या उपजीव्य महाकाव्य हैं और इनके अध्ययन में 'आधुनिक प्रबंध काव्य' 'हिंदी के महाकाव्य' 'द फंक्शंस ऑफ द माइंड' 'द बैकग्राउंड ऑफ पोएट्री' आदि ग्रन्थ उपस्कारक या सहायक ग्रन्थ हैं। कुछ विद्वान दोनों प्रकार के ग्रन्थों को सहायक मानते हैं, इसलिए वे इस वर्ग के ग्रन्थों को ही 'सहायक ग्रन्थ' नाम से अभिहित करना उचित नहीं समझते। यह आपत्ति कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।

उपस्कारक या सहायक ग्रन्थों के वर्ग में प्राचीन सामग्री पत्र-पत्रिकाएं गजेटियर, रिपोर्ट आदि का समावेश भी कर लिया जाता है। इस वर्ग के अन्तर्गत दूसरी भाषाओं

के अन्त भी समाविष्ट किये जा सकते हैं। सहायक सामग्री से सम्बन्धित कोई भी रचना इसी वर्ग की सम्पत्ति होती है।

९ नामानुक्रमणिका

टंकित प्रबंधों में इसकी आवश्यकता नहीं होती। इसकी योजना पाठक की सुविधा के लिए की जाती है। मुद्रित ग्रन्थों में इसके दो वर्ग होते हैं—व्यक्तियों के नाम, रचनाओं के नाम। ये दोनों वर्ग भिन्न-भिन्न हैं। इनमें किसी भ्रान्ति के लिए साधारणतया गुंजाइश नहीं है। फिर भी कभी-कभी भ्रमवश निराला के 'तुलसीदास' को रचना-वर्ग के अन्तर्गत न रखकर व्यक्ति-वर्ग में रख दिया जाता है।

(२)

जिस प्रकार पूरे शोध-प्रबन्ध की मूल काया अनेक अध्यायों में विभक्त होती है उसी प्रकार प्रत्येक अध्याय भी अनेक प्रकरणों में विभक्त होता है और एक प्रकरण अनेक अनुच्छेदों में भी फैल सकता है। इस विषय में दो बातों पर प्रमुख ध्यान देना चाहिये एक तो सम्बन्ध निर्वाह और दूसरी अध्याय या प्रकरण का उपयुक्त शीर्षक तथा पृष्ठ पर उसका स्थान।

सम्बन्ध-निर्वाह

सम्बन्ध-निर्वाह एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। इसकी आवश्यकता दो अध्यायों के बीच में भी होती है और प्रकरणों और अनुच्छेदों के बीच में भी। प्रबन्ध शैली जहाँ गौरव पाती है वहाँ अनुच्छेदों में पूर्वापरता की प्रतिष्ठा निर्वाहित की जाती है। प्रत्येक अनुच्छेद अपने आप में एक लघु प्रबन्ध होता है। इसके तीन भाग होते हैं—आदि मध्य और अन्त। आदि में पूर्वानुच्छेद के अन्त से प्राप्त बीज को लेकर मध्य में उसका अंकुरण और विकास दिखाया जाता है और अन्त में उसके फल का संक्षिप्त विवरण देकर आगे के अनुच्छेद के लिए बीज-संकेत कर दिया जाता है।

यह प्रणाली कष्टसाध्य दिखायी पड़ती है किन्तु अभ्यास से इसको सिद्ध किया जा सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अधिकांश निबन्धों और लेखों में इसी प्रकार की बँधी हुई शैली मिलती है। विविध विचारों को शृंखलाबद्ध करना भी तो शैली का एक गुण है। जिस प्रकार अनुच्छेदों का संबंध-निर्वाह एक कला है उसी प्रकार प्रकरणों और अध्यायों का सम्बन्ध-निर्वाह भी।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि एकरूपता को अभिन्न किसी शोध-प्रबन्ध का एक बड़ा भारी गुण होता है। एकरूपता की परीक्षा का क्षेत्र इसकी सम्बद्धता का ही एक पहलू है। अधिकांश शोध-प्रबन्धों में प्रकरण-संबंध को निर्वाहित किया है किन्तु अध्याय-

संबंध के निर्वाह की अवहेलना कर दी जाती है जिससे प्रत्येक अध्याय की सत्ता पृथक हो जाती है। जो संबंध अनुच्छेदों में ईप्सित है वही अध्यायों में भी अतएव इस संबंध का पोषण बड़ी सावधानी से होना चाहिये। अनुच्छेदों की पारस्परिकता तो किसी निबंध या लेख में भी उपेक्षणीय नहीं होती फिर किसी शोध-प्रबन्ध में तो कदापि नहीं।

जिस प्रकार प्रकरणों के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं उसी प्रकार अध्यायों के संबंध में भी। इन निष्कर्षों को मूल विवेचना से पृथक नहीं कर देना चाहिये। निष्कर्षों की प्रतिष्ठा ऐसे कौशल से की जानी चाहिये कि विवेचन और निष्कर्ष का संबंध अटूट दीख पड़े। अध्याय के अन्त में प्राप्त वाले निष्कर्ष के किसी अंश से परवर्ती अध्याय की भूमिका का बीज-वपन किया जा सकता है और उसी के विकास से अध्याय का विस्तार नियमित होता है।

शीर्षक और उनका स्थान

रूपरेखा-क्रम से संबंधित दूसरी बात विभिन्न शीर्षक और उनका स्थान है। वैसे तो रूप-रेखा ही शीर्षकों का विधान प्रस्तुत कर देती है किन्तु प्रबन्ध के प्रारूपण के उपरान्त उनके नामों की उपयुक्तता अधिक स्पष्ट हो जाती है। उस समय परिवर्तन करने में किसी झिझक से काम लेना उचित नहीं है। आवश्यकता होने पर किसी परिवर्तन को स्थान दिया जा सकता है।

अध्याय-शीर्षक

अध्यायों के शीर्षक संबंधित पृष्ठ के ऊपर चौड़ाई के मध्य में व्यवस्थित किये जाते हैं। शीर्षक के ऊपर अध्याय की क्रम-संख्या की व्यवस्था होती है। कभी-कभी अध्याय-संख्या के सामने ही शीर्षक दे दिया जाता है। दोनों पद्धतियाँ उपयुक्त और प्रचलित हैं। पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) पंचम अध्याय
दार्शनिक भूमिका

(२) ५ दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्रकरण-शीर्षक

प्रकरणों को दो वर्गों में विभक्त करके उनके शीर्षकों तथा उपशीर्षकों का दो प्रकार से दिया जाता है। कुछ लोग प्रकरणों और उप-प्रकरणों, दोनों को बाईं ओर के हाशिये की ओर व्यवस्थित करते हैं और कुछ दूसरे लोग प्रकरण को बीच में देकर उप-प्रकरणों को बाईं ओर के हाशिये की ओर प्रस्तुत करते हैं। यह कोई विशेष मत-भेद की बात नहीं है, रुचि-वैभिन्न्य मात्र है।

अध्याय और प्रकरण का अन्त तथा सम्बंधित पृष्ठ

किसी अध्याय के समाप्त होने पर यदि पृष्ठ खाली रह जाये तो चिन्ता नहीं। दूसरे अध्याय का प्रारम्भ दूसरे पृष्ठ से किया जाना चाहिये। प्रकरण के संबंध में ऐसा

नहीं किया जाता। यदि प्रकरण के समाप्त होने पर पृष्ठ में एक-दो पंक्ति की भी गुंजाइश हो तो उसका उपयोग दूसरे प्रकरण के आरंभ के निमित्त किया जा सकता है अन्यथा प्रबन्ध में ऐसे अनेक स्थलों की संभावना होने से सौन्दर्य के विघटन के अवसर भी बढ़ सकते हैं।

अध्याय के अन्त में पड़ी रेखा अथवा बिन्दु

नये अध्याय के आरम्भ करने से पहले पृष्ठ के ऊपर की ओर कुछ स्थान छोड़ देना चाहिये। उसके बाद ही अध्याय-संख्या और उसका शीर्षक देना चाहिये। अध्याय के समाप्त होने पर एक छोटी पड़ी रेखा अथवा एक बड़े बिन्दु की व्यवस्था पृष्ठ की चौड़ाई के मध्य में करनी होती है। इन बातों का ध्यान टंकण में विशेष रूप से रखना चाहिये।

भाषा

शोध-प्रबन्ध का सम्बन्ध एक ऊँची उपाधि से होता है, इसलिए उसकी भाषा बड़ी मार्जित होनी चाहिये। परीक्षक प्रायः अपनी रिपोर्ट में प्रबन्ध की भाषा की चर्चा अवश्य करते हैं। सच तो यह है कि भाषा-प्रबन्ध का मेरुदण्ड होता है। जो पाठक या श्रोता को प्रभावित न कर सके वह कैसी भाषा? साथ-साथ भाषण लेख और शोध-प्रबंध की भाषा में स्वरूप भेद अवश्य होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भाषण और लेख में प्रभावशाली भाषा वर्जित है किन्तु शोध-प्रबन्ध में तो वह अपवादात्मक है। भाषा की सुस्पष्टता शैलीकार की कलात्मक उपलब्धि की अभिव्यक्ति शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता है।

यद्यपि किसी प्रबन्ध में भाषा के जिस स्तर की अपेक्षा रहती है उसका अभाव प्रबन्ध की मान्यता के सिद्ध होने में बाधक होता है। वैसे भाषा एक-दो दिन के अभ्यास से नहीं बन सकती। उसके बनने में वर्षों की साधना अपेक्षित है फिर भी अनुकरण अनुशीलन और स्मरण के द्वारा उसको बनाने परिष्कृत करने का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि भाषा-सौष्ठव का उपार्जन असम्भव हो तो लेखक कम से कम अशुद्धियों का निवारण तो कर ही सकता है।

शोध-प्रबन्ध और शुद्ध भाषा

भाषा की अशुद्धियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं—

(१) वर्तनी की अशुद्धियाँ

(२) व्याकरण की अशुद्धियाँ तथा

(३) शब्दों मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से सम्बन्धित अशुद्धियाँ। इन तीनों में से किसी भी प्रकार की अशुद्धि असह्य है। प्रबन्ध-लेखक को चाहिये कि वह इनके संबंध में विशेष सावधानी से काम ले। अन्यथा भयंकर परिणाम उपस्थित कर सकता है।

इसके अतिरिक्त अशुद्धियों का एक वर्ग ऐसा होता है जिसमें सबंध विपर्यस्त हो जाता है। इससे भाषा-शैथिल्य व्यक्त होता है, किन्तु यह भयंकर नहीं है। एक उदाहरण से इस अशुद्धि के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है—

'रामचरित मानस के पौराणिक प्रसंगों के संदर्भ से वस्तु-रूप का विवेचन

यहाँ 'रामचरित मानस' का संबंध वस्तु-रूप से है जो बहुत दूर पड़ गया है। वाक्य-विन्यास की शिथिलता के कारण भ्रम भी उदित हो सकता है। इसका शुद्ध रूप इस प्रकार होना चाहिये—

पौराणिक प्रसंगों के संबंध से रामचरित मानस के वस्तु-रूप का विवेचन।

भाषागत शैथिल्य के निवारण से अर्थ में अधिक स्पष्टता आ जाती है। अतएव शोध-प्रबन्ध में ऐसे शैथिल्य को स्थान नहीं मिलना चाहिये।

शोध-प्रबन्ध और विराम-चिह्न

शोध-प्रबन्ध की व्यवस्था-कला में विराम-चिह्नों का भी अपना स्थान है। इनके इधर-उधर लग जाने से पाठक को बहुत भ्रम हो सकता है। विराम-चिह्नों के न लगने से भी भ्रम की स्थिति पैदा हो सकती है। इन चिह्नों का प्रमुख कार्य वाक्यों उपवाक्यों वाक्यांशों पदों पदांशों और शब्दों की स्थिति को स्पष्ट करके वास्तविक अर्थ की अवगति कराना है। अशुद्ध प्रयोग से अनर्थ होने की संभावना रहती है। इन चिह्नों का ज्ञान छोटी कक्षाओं में ही हो जाना चाहिये। अतएव शोध-प्रबन्ध में इनकी अशुद्धियों के लिए कोई *अवकाश ही नहीं होना चाहिये। फिर भी विराम-चिह्नों की अशुद्धियाँ उसमें प्रचुरता से* दिखायी देती हैं।

विराम चिह्नों के अशुद्ध प्रयोगों के अनेक रूप हो सकते हैं, जैसे—

(१) उचित स्थान पर चिह्न न लगाना

(२) किसी स्थान पर उपयुक्त चिह्न को न लगाना

जिस प्रकार इन चिह्नों का अशुद्ध प्रयोग शोध-प्रबन्ध का एक दोष है, उसी प्रकार इनका प्रयोग न करना भी एक दोष है। इन दोषों का उद्गम लेखक या टंकण-कर्ता के प्रमाद या अज्ञान से होता है। शोध-प्रबन्ध को इन दोषों से विनिर्मुक्त रखना चाहिये अन्यथा कला की शुभ्रता पर कलंक लगता है।

टंकण और जिल्द

शोध प्रबन्ध की बात करते समय टंकण-कला और जिल्द के सौन्दर्य का विस्मरण नहीं किया जा सकता। टंकण-कार्य कुशल कर्ता से ही कराना चाहिये। कला-पूर्ण टंकण से प्रबन्ध का रूप निखर जाता है। टंकण में काट-पीट या अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिये और प्रत्येक पृष्ठ पर रिक्त स्थान छोड़ने और मुख पृष्ठ पर नामादि का सुन्दर अंकन पाठक को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। इसलिए इस पर भी विशेष ध्यान रखना प्रबन्ध की व्यवस्था-कला की सुरक्षा करना है।

अब तक जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक शोध-प्रबन्ध में नये तथ्यों की गवेषणा होनी चाहिये। नये तथ्यों के अभाव में तथ्य-व्याख्या की दिशा में नया प्रयास व्यक्त होना चाहिये किन्तु ज्ञान के विकास में मौलिक योग-दान अति वांछनीय है। डाक्ट्रेट की डिग्री के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में शोध-कर्म की मौलिकता जितनी आवश्यक है उतनी ही 'आलोचनात्मक परीक्षा' तथा 'ठोस निष्कर्ष' देने की क्षमता भी आवश्यक है। यों तो एक ही विषय पर कितने ही शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं, किन्तु प्रत्येक में संबन्धित विषय को आगे बढ़ाने का प्रयास मिलना चाहिये। इन सब गुणों के अतिरिक्त शोध-प्रबन्ध में मार्जित भाषा भी बहुत आवश्यक है क्योंकि वह साहित्यिक प्रस्तुतीकरण का प्रमुख आधार है।

शोध-प्रबन्ध के स्वीकृत होने के लिए प्रायः सभी विश्व-विद्यालय उपर्युक्त गुणों को आवश्यक मानते हैं और इनको स्वीकृति की शर्तों में सम्मिलित किया है। राजस्थान विश्व विद्यालय (तथा कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में भी) में शोध-प्रबन्ध की स्वीकृति के लिए एक शर्त यह भी है कि वह इसी रूप में प्रकाशन के योग्य हो। अतएव इन शर्तों के पूरा करने के प्रयास में लेखक को अपनी प्रतिभा अध्यवसायिता और कलाभिरुचि का एकान्तोपयोग करना चाहिये।

6 शोध प्रबन्ध-संशोधन और मौखिक परीक्षा

(क) शोध-प्रबन्ध-संशोधन

परीक्षक प्रस्ताव

कभी-कभी परीक्षकों द्वारा शोध-प्रबन्ध में संशोधन प्रस्तावित कर दिये जाते हैं। निर्देशक से संशोधन-विषयक सूचना मिलने पर अनुसंधाता घबरा जाता है। इस समय व्याकुल होना व्यर्थ है। इससे आगे का काम बिगड़ने की सम्भावना बढ़ती है। ऐसे बहुत कम उदाहरण मिलेंगे जिनमें शोध प्रबन्ध को सम्पूर्ण पुनः लिखवाया गया हो। प्रायः परीक्षक अपनी रिपोर्ट में ऐसे सुझाव दे देते हैं जो संशोधन की दिशा बतलाते हैं। अपने निर्देशक से बातचीत करके शोधक को उनके सम्बन्ध में पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। निर्देशक और शोधक दोनों को परीक्षक के सुझावों का अध्ययन गम्भीरता से करना चाहिये। यदि कोई बात सुझावों में अस्पष्ट रह गई हो तो उसे पत्र-द्वारा स्पष्ट कर लेना चाहिये। सुझावों का अध्ययन कुछ वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है, जैसे—

(१) किसी अध्याय या प्रकरण का पुनर्गठन या संशोधन
(२) किसी मत या विचार का संशोधन
(३) किसी उक्ति का संशोधन
(४) तिथि-सम्बन्धी संशोधन
(५) नाम-सम्बन्धी संशोधन
(६) क्रम-संशोधन
(७) घटना-विषयक संशोधन
(८) सन्दर्भ-विषयक संशोधन
(९) भाषा विषयक संशोधन
(१) आकार-विषयक संशोधन

संशोधन-विधि

परीक्षक के सुझावों को इन वर्गों में रख कर विचार करना चाहिये। मान लीजिये लेखक शंकराचार्य के स्थान पर रामानुज लिख गया है अथवा इसी प्रकार की कुछ और

पूर्ण कर देता है तो उसका सुधार बड़ी सरलता से किया जा सकता है। प्राय: ऐसा देखने में आता है कि जब परीक्षक को अधिक संशोधन अभिप्रेत होते हैं तो वे कई प्रकार के होते हैं। तब भी कोई विशेष व्याकुलता की बात नहीं होती। यदि कुछ शब्दों या वाक्यों की बात हो तो संबंधित पृष्ठों को निकाल कर वांछित संशोधन के पश्चात् टंकित करवा कर उन्हें पुन: उपयुक्त स्थान पर लगाया जा सकता है। आवश्यकता होने पर फिर से जिल्द भी बंधवाई जा सकती है।

जहाँ प्रकरणों का क्रम बदलने की बात उठती है, वहाँ संबंधित अध्याय या अध्यायों की सामग्री में काट-छाँट करनी पड़ती है। तत्पश्चात् टंकित पृष्ठों को यथास्थान व्यवस्थित किया जा सकता है। अन्य संशोधन भी इसी प्रकार किये जा सकते हैं।

इन सभी प्रकार के संशोधनों में अध्याय का पुनर्लेखन या भाषा-सुधार कठिन होता है। भाषा-सुधार तो अध्याय के पुनर्लेखन से भी अधिक कठिन है। अध्याय के पुनर्लेखन में तो शोध-प्रबन्ध के एक अंश पर ही ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है किन्तु भाषा-सुधार में सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध की भाषा को ध्यान में रखना पड़ता है। ऐसी स्थिति में दुबारा टाइप करवाना पड़ता है। अतएव शोध-प्रबन्ध के लेखक को भाषा के संबंध में विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये।

(ख) शोध प्रबंध और मौखिक परीक्षा

कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़ कर शोध-प्रबन्ध के संबंध में मौखिक परीक्षा प्राय: सबत्र अनिवार्य है। मौखिक परीक्षा के संबंध में किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी तैयारी के साथ ही परीक्षकों के सामने जाना उचित है। मौखिक परीक्षा के संबंध में निर्देशक का परामर्श अत्युपयोगी होता है। अतएव निर्देशक से उचित परामर्श लेकर ही तैयारी करनी चाहिये।

मौखिक परीक्षा की भूमिकाएं

मौखिक परीक्षा को चार भूमिकाओं में विभक्त किया जा सकता है—(१) परीक्षकों की रिपोर्ट की प्रकृति (२) निर्देशक का निर्देशन (३) परीक्षा की तैयारी तथा (४) उत्तर देने का ढंग। पहली दो भूमिकाओं को तो एक ही साथ ले लिया जा सकता है किन्तु तीसरी भूमिका कुछ सावधानी और चतुरता की अपेक्षा रखती है। इस भूमिका पर तैयारी व्यवस्थित रूप से करनी चाहिये। तैयारी की दृष्टि से शोध-प्रबन्ध को चार अंशों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सामान्य प्रकरण, (२) विशेष प्रकरण (३) विशेष उद्धरण तथा (४) सामग्री-विवरण।

शोध-प्रबन्ध में दो प्रकार के प्रकरण

कहने की आवश्यकता नहीं कि शोध-प्रबन्ध में दो प्रकार के प्रकरण होते हैं—सामान्य तथा विशेष। सामान्य विषय की अपेक्षा कुछ कम महत्त्व रखते हैं। दोनों का

अध्ययन अपेक्षित होता है, किन्तु विशेष प्रकरणों को लेकर विशेष तैयारी करनी चाहिये। जिन प्रकरणों में लेखक के अपने सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं, उनको भी 'विशेष' ही समझना चाहिये। उनके संबंध में परीक्षक कुछ पूछ सकता है। अपने मतों के संबंध में परीक्षार्थी के निरुत्तर होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

परीक्षार्थी की निरुत्तरता

अधिक कठिनाई परीक्षार्थी को उस समय प्रतीत होती है जब वह अपने मतों को तर्कों से पुष्ट न करके सीना-जोरी से प्रतिपादित करता है। ऐसी स्थिति में उसके सामने कोई आधार या सहारा नहीं होता और उसे निरुत्तर ही होना पड़ता है।

सामग्री से संबंधित प्रश्न

सामग्री के संबंध में भी परीक्षक प्रश्न पूछ बैठते हैं। ऐसा तब होता है जब कि सामग्री के परिचय या संदर्भों के संबंध में उनको कुछ संदेह बना रह जाता है। ऐसे सन्देह के लिए प्रबन्ध-लेखक को कोई अवकाश नहीं छोड़ना चाहिये। यदि भूल से कोई अनिश्चित बात बनी जाये तो उसके संबंध में उसका जितना ज्ञान हो बता देना चाहिये अन्यथा अपनी अज्ञता को चालाकी से छिपाना उचित नहीं होता। गोपन का परिणाम भयंकर भी हो सकता है।

उद्धरण-विषयक प्रश्न

परीक्षक लोग उद्धरणों के संबंध में भी प्रश्न कर सकते हैं। जब कोई उद्धरण अनुपयुक्त होता है अथवा उसे उचित स्थल पर नहीं रखा जाता है, उस समय परीक्षक उसके संबंध में स्पष्टीकरण मांग सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक उद्धरण का स्थानीय मूल्य होता है और उसकी उपेक्षा करना अनुचित है।

संदर्भ

उद्धरणों से संबंधित संदर्भ होते हैं। सामग्री-संकलन के समय भी संदर्भ के विषय में तत्परता से काम लेना चाहिये तथा प्रारूप के समय भी। कहीं का कहीं संदर्भ देने से न देना अच्छा होता है। अशुद्ध संदर्भ देने में प्रबन्ध-लेखक के प्रमाद के साथ उसका अभिप्राय भी व्यक्त हो सकता है। उस अभिप्राय के पुष्ट होने पर जो परिणाम होना चाहिये वही होता है। परिणाम का परिमाण परीक्षक की दया पर निर्भर है। अतएव संदर्भ देते समय प्रबन्ध-लेखक को ईमानदारी से काम लेना चाहिये। परीक्षक की आँखों में धूल झोंकने की बात प्रायः पकड़ में आ जाती है। उससे सावधान रहना चाहिये।

विशेष प्रकरण

इस प्रकार विशेष प्रकरणों को विशेष ध्यान से पढ़ना चाहिये और इस स्थिति से पूर्व (प्रबन्ध को विश्वविद्यालय में भेजने से पूर्व) भी विशेष सावधानी से [illegible]

होता है। इसकी पुष्टि के लिए बहुत से ग्रंथों के अर्थ और प्रयोजन पर परीक्षार्थी का मौलिक अधिकार होना आवश्यक है। विशेष उद्धरण अपने निष्कर्ष के संबंध में विशेष सतर्कता की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे उद्धरणों को उनके संदर्भ के साथ अपना बना लेना अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। वे प्रामाणिक बोलन के साक्षी होकर किसी भी अवसर पर अपना योग देने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। मौखिक परीक्षा के समय तो वे सहायता का काम करते हैं।

व्यावहारिक शिष्टता

मौखिक परीक्षा में व्यावहारिक शिष्टता एवं आत्म-विश्वास के महत्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परीक्षा-भवन में प्रविष्ट होने के समय से लौट कर आने तक शिष्टाचार या सम्यगाचरण परीक्षार्थी के गौरव का घोतन करता है। चलने, बैठने या बात-चीत करने में ऐसी शैली उपयुक्त होती है, जो परीक्षक को ही नहीं किसी भी व्यक्ति को बुरी प्रतीत न हो।

प्राय ऐसा देखा जाता है कि परीक्षार्थी परीक्षक के समक्ष कुर्सी पर बैठ कर उसके हत्थों पर या तो हाथ रखता रहता है या उन्हें कुरेदता रहता है। यदि ऐसा नहीं करता तो मेज पर कोहनी टेक कर किसी पेपरवेट या कलम को उठाता-रखता रहता है। इससे परीक्षक को क्षोभ होता है। चाहे परीक्षार्थी की दृष्टि में ये बातें नगण्य हों किन्तु शिष्टता के साथ इनके सबंध को एक विशेष दृष्टिकोण से ही देखा जाता है।

प्रश्न का उत्तर

उत्तर देते समय भी कुछ बातों के ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। परीक्षक के प्रश्न को पूर्णत सुन कर ही उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिये। परीक्षक के प्रश्न के बीच में ही परीक्षार्थी द्वारा उत्तर का प्रारंभ कर देना भी एक अशिष्टता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि परीक्षार्थी के उत्तर तर्क हों। ऐसी कभी मौखिक परीक्षा में निराधार या अप्रर्यप्त उत्तर परीक्षार्थी के सम्मान को क्षीण करते हैं।

उत्तर और प्रबन्ध की मर्यादा

परीक्षक के प्रश्न प्रायः शोध-प्रबन्ध से ही संबंधित होते हैं। उनके उत्तर भी वैसे ही होने चाहिये। प्रबन्ध की मर्यादा में दिया हुआ उत्तर अपनी मर्यादा को प्रतिष्ठित करता है। ऐसे उत्तर में परीक्षार्थी कहीं भटक नहीं सकता। उत्तर देने में भटका हुआ व्यक्ति परीक्षक को प्रभावित नहीं कर सकता। वह स्वयं भी उत्तर की दुर्बलता को पहचान कर विवश हो जाता है। अतएव उत्तर देने में इसकी मर्यादा का विचार रखना चाहिये।

अशुद्ध उत्तर का भय कारण

कभी-कभी प्रश्न को न समझने के कारण भी अशुद्ध उत्तर दे दिया जाता है

खण्ड २

हिन्दी-शोध-कार्य-विवरणिका

7

हिन्दी-शोध-कार्य का इतिहास

प्राचीन भारतीय साहित्य विपुल होते हुए भी आधुनिक भारतीय साहित्य पर पश्चिम का प्रभूत ऋण है। सामान्यतया 'आधुनिक पश्चिम' का इतिहास १९ वीं-२० वीं शताब्दी का इतिहास है और यही पश्चिम की ज्ञान-पिपासा का भी इतिहास है। १९ वीं शताब्दी को पश्चिम का स्वर्ण-काल कहना अत्युक्ति न होगी। इस शताब्दी में ज्ञान-विज्ञान ने पश्चिम में एक उत्साह-भरी अँगड़ाई ली और अपनी ज्योति को अनेक दिशाओं में विकीर्ण किया। इस ज्योति की किरणें भारत की ओर भी बढ़ीं और यहीं से राजनीतिक संबंधों के साथ भारत के साथ पश्चिम के सांस्कृतिक संबंधों का सूत्रपात भी हो गया। कुछ तथ्यों के प्रकाश में आने से पाश्चात्य विद्वानों की रुचि भारतीय साहित्य और संस्कृति की ओर हुई, जो अनुसंधान का मूल प्रेरणा स्रोत सिद्ध हुई।

सबसे पहले भाषा पर पश्चिम में शोध-कार्य प्रारंभ हुआ और यह तब हुआ जब कि १८ वीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स तथा शार्लो आदि पाश्चात्य विद्वानों को 'संस्कृत' का पता चला। उन्होंने संस्कृत ग्रीक लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं के शब्दों और व्याकरणिक रूपों में समानता देखी। तभी से तुलनात्मक अध्ययन का बीजारोपण हो गया।

१९ वीं सदी में अध्ययन और अनुसंधान की परम्परा और भी अधिक विकसित हुई और तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा फारसी आर्मीनियन स्लैवानिक कैल्टिक जर्मनिक आदि भाषाओं में ऐतिहासिक संबंधों की स्थापना हुई। इस अध्ययन के आधार पर मैक्समूलर, ह्विटनी व गमीन आदि ने एक मौलिक भाषा की कल्पना की जिसे भारत-जर्मन या भारत-यूरोपीय नाम दिया गया। अध्ययन की दिशा का विकास होता चला गया और संसार की अन्य भाषाओं का भी पारिवारिक वर्गीकरण किया गया। परिणाम-स्वरूप यूरोपीय द्रविड़ तथा अन्य भाषा-परिवारों पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। भारतीय भाषाओं पर कार्य करने वाले इन विद्वानों में

प्रतिनिधित्व करने वाली शाखा 'बौद्ध वर्णसंकर संस्कृत' पर एक महत्वपूर्ण रचना प्रकाशित की। डा० एस० के० चटर्जी और डा० सुकुमार सेन द्वारा संपादित मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा पाठ्यावली भी जो कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी, उल्लेखनीय है। इसके द्वितीय भाग में व्याकरण और व्युत्पत्ति संबंधी प्रचुर टिप्पणियाँ दी हुई हैं"[1]।

भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा को आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर मोड़ने का प्रमुख श्रेय बीम्स, कैलॉग, हार्नले, ग्राउज, ग्रियर्सन आदि को है। ग्रियर्सन ने पहले-पहल भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया जो अपने ढंग का अनूठा कार्य था। फ्रांसीसी विद्वान् ब्लाक का कार्य गंभीरता की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने मराठी, भारत-आर्य तथा द्रविड़ का पांडित्यपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया। सर राल्फ लिली टर्नर का नाम भी इस संबंध में बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने 'नेपाली डिक्शनरी' के रूप में आर्य-भाषाओं के शब्दों पर प्रशस्य कार्य किया। इसके अतिरिक्त भारतीय आर्य-भाषाओं से संबंधित शोध-क्षेत्र में डा० टैसिटोरी, [illegible] डा० तारापोरवाला, डा० कत्रे, डा० चटर्जी, डा० सुकुमार सेन, डा० तगारे आदि प्रमुख हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं पर कार्य अभी अधिक विकसित अवस्था में नहीं है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन का सूत्रपात बीम्स की लेखनी से उन्नीसवीं शती में हुआ। बहुत समय तक इस क्षेत्र में बहुत कम कार्य हो सका। बीसवीं शती ने विद्वानों के ध्यान को इस ओर पुनः आकर्षित किया। स्वर्गीय प्रो० जूल ब्लाक ने वेदों से आधुनिक भाषाओं तक की रूपरेखा प्रस्तुत करके मराठी भाषा पर बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का है, जिन्होंने अपनी ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन को ऐसे व्यापक और विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया कि बाद की कुछ विशिष्ट कृतियों को छोड़ कर, जैसे डा० बाबूराम सक्सेना का 'अवधी भाषा का विकास' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'ब्रजभाषा', अन्य ग्रंथों में उनका अनुकरण और पिष्टपेषण-मात्र होना स्वाभाविक हो गया[2]। डा० चटर्जी की पद्धति पर किया हुआ प्रमुख कार्य डा० उदयनारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' है।

आधुनिक भाषा-विज्ञान के अध्ययन [illegible] पश्चात् स्विट्जरलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् फर्दिनान्द द सोस्युर से प्रारम्भ होता है, जिन्होंने सन् १९१६ ई० में अपने प्रसिद्ध

---

१. देखिये अ० वि० पृ० १४४
२. देखिये अ० अ० पृ० १११

जहाँ यह तथ्य स्मरणीय है कि हिन्दी-अनुसंधान का आरम्भ विदेशी विश्वविद्यालयों में विदेशियों द्वारा किया गया, वहाँ यह भी अविस्मरणीय है कि हिन्दी में डाक्टरेट की उपाधि सबसे पहले एक विदेशी विद्वान् तैस्सितोरी को सन् १९११ में 'रामचरित मानस और रामायण' पर फ्लोरेंस विश्वविद्यालय ने प्रदान की थी।

हिन्दी-विषयक अनुसंधान का दूसरा प्रयास भी विदेशी विश्वविद्यालय में ही हुआ। सन् १९१८ ई० में लन्दन विश्वविद्यालय ने जे० एन० कारपेंटर को 'थियालाजी आफ तुलसीदास' (तुलसीदास का धर्मदर्शन) पर डी० डी० (डाक्टर आफ डिविनिटी) की उपाधि दी। इस प्रकार मौहिउद्दीन कादिरी का प्रयास शोध की दिशा में तीसरा है।

हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी विषय पर हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत भारतीय विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने वाले विद्वानों में स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने 'दि निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री' (हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय) नामक शोध-प्रबन्ध लिख कर सन् १९१४ में हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त की। इसी वर्ष श्री जनार्दन मिश्र को कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। उनका शोध-विषय 'सूरदास का धार्मिक काव्य' था। आज हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में अनेक विषयों को लेकर शोध-कार्य हो रहा है। अनेक भारतीय विश्वविद्यालय इसे प्रोत्साहन दे रहे हैं।

हिन्दी-शोध-कार्य के इतिहास का विभाजन सामान्यतया दो कालों में कर सकते हैं—१ सन् १९४८ ई० से पूर्व का तथा २ सन् १९४८ के बाद का काल। शोध-कार्य के ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर यह कहना असमीचीन न होगा कि सन् १९४८ के बाद का समय 'हिन्दी-शोध' का वैभवकाल है। आगे जो होगा वह होगा आज तक की मीमांसा के आधार पर यह हिन्दी-शोध का वैभव-काल है। सन् १९४८ से पूर्व के समय को दो युगों में बाँटा जा सकता है—प्रारम्भिक काल (१९११ से १९३५ तक) तथा विकास काल (१९३५ से १९४८ तक)। इस प्रकार हिन्दी-शोध के तीन युग दृष्टिगोचर हो सकते हैं—

१ प्रारम्भिक-काल—(१९११ से १९३५ तक)
२ विकास-काल—(१९३५ से १९४८ तक)
३ वैभव-काल (१९४८ से आज तक)

१ प्रारम्भिक काल

यह वह समय है जब कि भारत में हिन्दी-शोध कार्य की नींव पड़ी तथा भारतीय विद्वानों का ध्यान हिन्दी में अनुसंधान करके उपाधि प्राप्त करने की ओर गया। इस युग

अधिक प्रसीक्षित होने का ही भय रहता था। इसीलिए उसका ध्यान मार्जन और परिमार्जन की ओर रहता था। इस समय जो शोध-प्रबन्ध लिखे गये उनमें से कई तो फिर से लिखवाये गये। इससे गवेषकों के श्रम बड़े होने गये। कुछ ऐसा भी लगता है कि इस समय के निर्देशकों और परीक्षकों का उत्तरदायित्व कुछ अधिक प्रबुद्ध था। गवेषक के समक्ष अपनी सफलता और प्रतिष्ठा का प्रश्न था तथा निर्देशक और परीक्षक के समक्ष कर्तव्य-निर्वाह का। गवेषकों पर ही नहीं निर्देशकों और परीक्षकों पर भी अपनी आलोचना का अंकुश रहता था। अंग्रेजी और उर्दू के पक्षपाती हिन्दी के उपहास के अवसर के लिए मुँह बाये बैठे रहते थे। इसलिए इस समय के शोध-कार्य को प्रायः कर्तव्य और तत्परता की भावना का पोषण ही मिलता था। इसी कारण इस युग में संतुलित एवं मार्जित शोध-प्रबंधों का प्रणयन हुआ।

२ वैभव-काल

स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ समय तक तो देश में बड़ी अराजकता रही किन्तु वह संक्रमणकालीन हलचल थी और अपना रंग दिखा कर समाप्त हुई यद्यपि उसका परिणाम आज तक पीड़ित कर रहा है। अब हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा की तोल पर तुलने का सुअवसर प्राप्त मिला। अंग्रेजों के जाने के साथ-साथ ही भारतीय जनता अंग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा की प्रतिष्ठा की बात सोचने लगी और भी राजभाषा आचार्य डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और महात्मा गांधी की भावनाओं को सफलता मिली और भारतीय संविधान में हिन्दी को 'राष्ट्र-भाषा' की गरिमा से गौरवान्वित किया गया। इस कार्य में राष्ट्रवादियों का जितना हाथ रहा उससे कहीं अधिक हिन्दी-प्रेमियों का रहा। इस प्रसंग में स्वर्गीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को कदापि नहीं भुलाया जा सकता।

'राष्ट्र-भाषा' की गरिमा पाने पर भारतीय जनता का ध्यान सहसा हिन्दी की ओर खिंच गया और भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था ने बड़ी तीव्र प्रगति की। हिन्दी का भविष्य चमकने लगा और छात्रों की अभिरुचि उसके अध्ययन की ओर बढ़ने लगी। स्नातकोत्तर कक्षाओं में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या में वृद्धि हुई। इसका प्रभाव हिन्दी-शोध-कार्य पर भी पड़ा। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में ही नहीं प्रत्युत अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी-अध्ययन के प्रति अभिरुचि का प्रसार हुआ। हिन्दी-प्रेमियों ने देश के अनेक भागों में हिन्दी-प्रचार के लिए आयोजन किये और हिन्दी के विरुद्ध दुर्भावपूर्ण आवाज के बुलन्द होने पर भी इस अभियान में बहुत अन्तर नहीं आया। हाँ इसका यह प्रभाव अवश्य पड़ा कि अंग्रेजी पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में पुनः वृद्धि होने लग गयी।

जो हो, हिन्दी-शोध-कार्य अब रुकने वाला नहीं है उसमें शैथिल्य आने का नहीं है। दक्षिण के लोग भी हिन्दी के अध्ययन में बड़ी तत्परता प्रकट कर रहे हैं। जो लोग

कुछ निहित स्वार्थों के कारण हिन्दी का विरोध कर रहे हैं वे भी हिन्दी के महत्त्व से परिचित हैं। हिन्दी के सामर्थ्य की ओर से वे आँखें बन्द नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें इसकी तुलना में रखने योग्य कोई अन्य भारतीय भाषा दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। कोश-कर्म के विकास को देख कर कलकत्ता इलाहाबाद बड़ौदा पूना बंगलौर हैदराबाद आदि स्थानों पर अहिन्दी-भाषियों के हिन्दी-अनुराग की सराहना किये बिना नहीं रहा जा सकता।

कुछ परिस्थितियों के होते हुए भी हिन्दी-कोश-कर्म को इस युग में कुछ विशेष अनुकूल मिला और वह था अनेक विषयों का उन्मेष। जो विषय इससे पूर्व कोशकार के सामने नहीं आये थे उनको वातावरण मिला। राजनीतिक परिस्थितियाँ बदलीं। समस्याएं नयी कुछ हल हुईं। देश ने दासता से मुक्त होकर एक नया वातावरण पाया। ब्रिटिश राज्य समाप्त होकर भी अपना इतिहास छोड़ गया जिससे जन-जीवन की बदलाव और प्रगति का ही नहीं साहित्य का भी गहरा संबंध था। जिन परिस्थितियों ने जन मानस की अभिव्यंजना को प्रभावित किया था उन्हीं में हिन्दी-साहित्य के विकास की प्रेरणा भी निहित थी। स्वतंत्रता की स्थापना विभाजन की ज्वालामयी प्रतिक्रिया और वैदेशिक संबंधों की अभिनव स्थापना ने नये साहित्य और नये कोश-कर्म को नयी प्रेरणा दी।

कुछ राजनीतिक झगड़ों में होकर सामाजिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला। किसान और मजदूर को नये दिन देखने को मिले। ऊँच-नीच के भेद-भाव के उन्मूलन ने सामाजिक प्रोत्साहन प्राप्त किया और इसी समय भारतीय नारी ने भी अपनी शताब्दियों की परतन्त्र कुण्ठाओं को सुलझाने का सुअवसर प्राप्त किया। पूँजीवाद आर्थिक वैषम्य शोषण आदि की भर्त्सना ने जोर पकड़ा तथा संस्कृति और धर्म को नये दृष्टिकोण से देखने का उपक्रम होने लगा जिसको समाजशास्त्र और मनोविज्ञान का प्रमुख योग प्राप्त हुआ। पंचवर्षीय योजनाओं ने भी एक नये वातावरण की सृष्टि की। इन सबका परिणाम साहित्य-सर्जना के लिए प्रोत्साहन (एक अपूर्व संयोग) सिद्ध हुआ। गद्य और पद्य की अनेक विधाओं ने नये आकार रूप प्राप्त किये और शोधकों ने इन तथ्यों की पृष्ठभूमि की गवेषणा करके साहित्यिक मर्म की व्याख्या की। इसके अतिरिक्त शोध-पद्धति ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ग्रहण किया। हिन्दी में पाठानुसन्धान की वस्तुपरक पद्धति ने प्राचीन पुस्तकों के मूल पाठ को खोज निकालने में एक विशेष मार्ग प्रशस्त किया।

इस प्रकार हिन्दी-कोश-कर्म ने इस युग में साहित्य और जन-जीवन से गहरा संबंध स्थापित किया जो इस युग की अपूर्व उपलब्धि है। यद्यपि इस संबंध की नींव साहित्य में तो दस-बारह वर्ष पूर्व ही पड़ चुकी थी किन्तु अनुसंधान के क्षेत्र में इसकी व्यापकता और व्याख्या प्रयुक्त इसी युग में हुई। और तो और भाषा के स्वरूप को जीवन के माध्यम से देखने की प्रक्रिया का प्रचलन भी इसी युग में हुआ। अनेक साहित्यिक संस्थाओं के अतिरिक्त भारतीय विश्वविद्यालयों ने हिन्दी-कोशकर्म के वैभव को परिपुष्ट करने में जो योग दिया वह बहुत स्तुत्य है।

३ प्रगति की तीव्रता

विभाजन की समस्याओं के कुछ सुलझने पर हिन्दी-अनुसंधान-कार्य में जो तीव्रता आई है, उसके अनेक कारण हैं। उनमें से प्रमुख ये हैं—१ हिन्दी के प्रति लोगों का अनुराग २ हिन्दी के भविष्य की उज्ज्वलता ३ सरलता की कल्पना ४ निर्देशन की सुलभता, ५. सामग्री की सुलभता ६ नौकरी मिलने के क्षेत्र की विस्तीर्णता ७ प्रतियोगिता की भावना तथा ८ भेड़-चाल-पद्धति। इन कारणों के अतिरिक्त राष्ट्रीय भावना भी हिन्दी-शोध-कार्य के वैभव की वृद्धि में सहयोगी सिद्ध हुई। प्रगति की तीव्रता के लिए एक-दो कारण ही पर्याप्त थे, किन्तु अनेक कारणों ने मिल कर न केवल प्रगति को ही तीव्र किया, वरन् भाषा और साहित्य के विभिन्न पहलुओं को सामने लाकर उनके मूल्यों को आंकने में भी बड़ी सहायता दी। इधर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने छात्रवृत्तियां दे कर हिन्दी के प्रति मुलभद्द सरकारी उपेक्षा-भाव का उन्मूलन और शोध-कार्य-रुचि को तीव्र किया जिससे कार्य-गति को सहज तीव्रता प्राप्त हुई। प्रगति की तीव्रता को सबसे बड़ा योग एक ओर प्रतियोगिता की भावना से और दूसरी ओर विदेशों में हिन्दी के बढ़ते हुए सम्मान से भी मिला।

४ विविधता

स्वातंत्र्योत्तर वातावरण ने विषय-वैविध्य के चुनाव को सरल बना दिया। शोधकों के सामने अनेक विषय आने लगे और उन्होंने अपनी रुचि के अनुरूप विषय लेकर विविधता को प्रोत्साहित किया। भाषा पाठ-शोध भाषा-विज्ञान साहित्य साहित्य-शास्त्र समाज और संस्कृति, धर्म दर्शन और मनोविज्ञान पृष्ठभूमि आधार, प्रभाव और तुलनात्मक अध्ययन, साहित्यिक वाद और प्रवृत्तियां आदि अनेक क्षेत्रों का प्रतिबिंब हिन्दी साहित्य में दिखने लगा और अनुसंधित्सुओं ने विविध विषयों से संबंधित कार्य करके शोध के भंडार को सम्पन्न किया।

प्रगति और उसकी विविधता का एक प्रमुख कारण यह हुआ कि देश के अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन होने लगा और उन्होंने शोध-कार्य को भी बहुत प्रोत्साहन दिया। भारतीय विश्वविद्यालय में ही नहीं वरन् मैनचेस्टर जैसे विश्व-विद्यालय ने हिन्दी-शोध कार्य को प्रोत्साहित करके राष्ट्रभाषा के सम्मान में अनुपम कार्य किया। आज लगभग पच्चीस विश्वविद्यालयों में हिन्दी-संबंधी शोध-कार्य हो रहा है। कुल मिलाकर अब तक लगभग दो हजार विषय स्वीकृत किये जा चुके हैं और करीब छः-सौ शोध अनुसंधाताओं को उपाधियां मिल चुकी हैं।

प्रगति का मूल्यांकन

हिन्दी अनुसंधान की प्रगति संतोषजनक है। कुछ शोध-कार्य तो बहुत ऊँचे स्तर का है। हां कुछ ऐसा है जो नाममात्र का शोध-कार्य है। जिसको हिन्दी में घटिया शोध-कार्य

कहा जा सकता है, वह वास्तव में बहुत घटिया है। कोई आदमी यह कहकर इससे कलंक को नहीं मिटा सकता कि अन्य भी संस्कृत दर्शन इतिहास आदि विषयों में भी इसी प्रकार का शोध-कार्य होता रहा है। घटिया कार्य अन्यत्र भी है, यह कोई बहाना नहीं है। यह एक कलंक है जिसके निवारण का प्रयास आवश्यक है।

अभी जो सूची दी जा रही है उससे यह विदित होगा कि कुछ विषय तो ऐसे हैं जिन्हें देखकर विस्मय होता है। कुछ शोध-प्रबन्ध देखने का अवसर मुझे भी मिला है। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो लेखक के तर्कों का सिलसिला बिखर गया है। प्रतिपादन-पद्धति भी बड़ी अस्पष्ट और शिथिल है। शोध-विषय के साथ कार्य-पद्धति की परीक्षा भी अपेक्षित है। विषय में विस्तार के लिए जितना अवकाश है, इसकी परीक्षा पहले ही कर लेनी चाहिये। खींच-तान कर विषय को अनुसंधेय बनाना साहित्यिक कलंक ही नहीं अपराध है। विषय की सीमाओं के भीतर ही व्यापकता को सीमित कर रखना कौशल की बात है। विषयान्तर में बहुत जाने से प्रतिपादन-प्रबंध शिथिल एवं बिखरा हुआ होता है। प्रकाशित शोध-प्रबन्धों में से भी कुछ में ऐसी शिथिलता मिल सकती है। अनावश्यक विस्तार कर पृष्ठ-संख्या की वृद्धि से शोध-कार्य सम्पन्न नहीं होता। शोध का लक्ष्य तथ्य की खोज के साथ उसकी व्याख्या करना भी है। उसके लिए विषय एवं उसकी परि-व्याप्ति की आवश्यकता होती है। "हिन्दी में ऐसे भी अनेक शोध-प्रबंध लिखे गये हैं जिनके विषय स्पष्टतया निर्धारित नहीं हैं, जिनमें इधर-उधर से प्रासंगिक और अप्रासंगिक तथ्य और तथ्याभास साहित्यिक और असाहित्यिक अनुशीलन और अननुशीलन ढेर-सी सामग्री बटोर कर एक भारी-भरकम पोथा एक भानुमती का पिटारा तैयार कर दिया गया है, जिनके संचय का यथोचित उपयोग नहीं किया गया है, जिनमें विषय का संतुलित एवं व्यवस्थित प्रतिपादन और तथ्यों की तर्कसंगत व्याख्या नहीं है, जिनमें दिये गये उद्धरण असम्बद्ध एवं अशुद्ध हैं, जिनके संदर्भोल्लेख अप्रामाणिक अधूरे और कहीं-कहीं भ्रामक भी हैं, जिनकी ग्रन्थ-सूची किसी पुस्तक विक्रेता की पुस्तक-सूची से अधिक ज्ञान-वृद्धि नहीं करती। तथ्य-निरूपण और ईमानदारी की कमी जिनका मूल दोष है।"[1]

कुछ बेसिर-पैर के शोध-प्रबन्धों को देखकर यह ठीक ही कहा गया है कि "शोध-प्रबन्धों में अधिकांश ऐसे मिलते हैं जिनमें विषय को अपने ही ढंग के तौर पर रख दिया जाता है, यहाँ तक कि कुछ ने तो विषय-प्रतिपादन शीर्षक से भिन्न किया है। मूल विषय पर ठोस रूप में लिखे हुए शोध-प्रबन्ध बहुत कम हैं। साहित्यिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सहारा लेकर थीसिस को भारी-भरकम बनाने की प्रवृत्ति ही आज के अनुसन्धित्सु में दृष्टि-गोचर होती है, हिन्दी-साहित्य के मूल पक्ष पर शोधपरक दृष्टि से कम लिखा जाता है। हाँ अनुमान करता, सिवा ईश्वरीप्रसाद आदि इतिहासकारों की रचनाओं का

[1] देखिये डा॰ उ॰ भा॰ सिंह, अनुसंधान का विवेचन, पृ॰ ११

सहारा लेकर ग्रन्थ के पन्ने पर पन्ने भरे जाते हैं। आज का अनुसंधित्सु शोध और आलोचना में अन्तर ही नहीं समझता। अधिकतर शोध-प्रबन्ध आलोचनात्मक पुस्तकों के रूप में लिखे हुए मालूम पड़ते हैं। यदि सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध पढ़ने के उपरान्त यह देखा जाये कि शोधार्थी ने विषय-सम्बद्ध कितना लिखा है तो पूरे ग्रन्थ का चतुर्थांश ही ठिकाने का मिलेगा। शोध-प्रबन्धों में शोध की वैज्ञानिक पद्धति तथा शैली के प्रतिपादन का अभाव खटकता है। अनुसंधित्सु की ईमानदारी और परिश्रम ही अनुसंधान का प्राण है। इस प्राण का अभाव कुछ प्रबन्धों में हमें मिला है।[1]

फिर भी हिन्दी के बहुत से शोध-प्रबंध स्तुत्य हैं। उनमें गवेषक की ईमानदारी और परिश्रम दोनों का समावेश है। नियोजना, सम्बन्ध-निर्वाह, प्रतिपादन-क्षमता, उत्कर्षता, विषय सम्पूर्ति, निष्कर्ष, औचित्य आदि की कसौटी पर भी वे पूरे उतरते हैं। ऐसे प्रबंध एक-दो नहीं बहुत हैं। फिर भी हिन्दी-अनुसंधान-कार्य कुछ लोगों की प्रशंसा का भाजन नहीं बन सका है। प्रायः उसकी निकृष्टता की ही चर्चा की जाती है। इसका प्रमुख कारण तो यही है कि एक मछली तालाब को गंदला कर देती है। एक घटिया सा हिन्दी-शोध प्रबंध प्रकाशित होकर देखने-सुननेवालों के लोचनों तथा श्रवणों में अपनी दुर्बलता की दुंदुभि बजाये बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त हिन्दी में शोध-प्रबंधों की संख्या अन्य विषयों की अपेक्षा बहुत अधिक हो चुकी है। इस अधिकता को बहुत-से लोग 'अन्यायपन' से मापते हैं।

यह कथन कहा जा चुका है कि हिन्दी में शोध-प्रबन्धों की संख्या इसलिए नहीं बढ़ रही है कि कोई भी व्यक्ति जैसा ही प्रबन्ध लिख कर उपाधि पा लेता है, वरन् प्रमुखतया इसलिए कि यहाँ भारी प्रतियोगिता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र या अंग्रेजी के लोग एम० ए० करते ही नौकरी पा लेते हैं उसी प्रकार हिन्दीवालों के लिए नौकरी पाना उतना सुकर नहीं है। डाक्टर की उपाधि पाकर उनकी टोपी में पर लग जाते हैं और नौकरी के लिए सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि हिन्दी-शोध के क्षेत्र में सब कुछ घास-फूस निकल रहा है। हिन्दी की कुछ कृतियाँ किसी भी विषय की शोध-कृतियों की तुलना में रक्खी जा सकती हैं। इन शोध-प्रबन्धों में कुछेक निकृष्ट हैं तो उनसे सबकी निकृष्टता आँकना न्यायसंगत नहीं है। [illegible] एक काँच के साथ अपने मूल्य को नहीं खो देता। शोध-प्रबन्धों की बढ़ती हुई संख्या गवेषणा का उत्साह बढ़ाने वाली है। संख्या के कारण यह भय नहीं होना चाहिए कि इसमें एक समय विषयों का अकाल पड़ जायेगा। अभी तो हिन्दी का प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य ही पूर्णतया अवेक्षित नहीं है। कितनी ही एक-

---

१ डा० हरवंशलाल हिन्दी अनुसंधान की प्रगति (हिन्दी-अनुसंधान की प्रक्रिया में)

जाए अल्मारियों और बस्तों से बाहर नहीं आ पाती है और जितनी भी रचनाएँ को विविध दृष्टिकोणों से परखने की बड़ी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक काल में प्रचुर साहित्य की अर्चना हो रही है। अन्वेषण के लिए इसमें भी बड़ी गुंजाइश है क्योंकि बदले हुए दृष्टिकोणों को निरखने-परखने की भी आवश्यकता है। बढ़ती हुई संख्या से शोध-प्रबन्धों का वास्तविक मूल्य कम नहीं हो सकता। हाँ उपाधि का मूल्य कुछ कम हो सकता है किन्तु ज्ञान-विज्ञान इस क्षय के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं है।

विषयों का सामान्य पर्यवेक्षण

भारतीय विश्वविद्यालयों में अनुसंधान के लिए अनेक विषय स्वीकृत किये गये हैं। पहले कहा जा चुका है कि स्वीकृत विषयों की संख्या दो हजार के आसपास है। बहुत से शोध विषयों में आवृत्ति-दोष होते हुए भी सूची के विषयों की विविधता सिद्ध है। साहित्य के इतिहास के प्रायः सभी युगों की ओर अन्वेषकों की दृष्टि गयी है। मध्य युग और आधुनिक युग के साहित्य को उन्होंने बड़ी बारीकी से देखा है किन्तु प्राचीन या आदिकाल पर उनका ध्यान कम गया है। वास्तव में पूर्वाधुनिक युग का साहित्य अधिक अन्वेषण चाहता है और उसमें भी आदिकाल का। अन्वेषक लोग प्राक्कालीन भाषा और साहित्य को केवल ऊपर से देखकर रह गये हैं। उन्होंने जिस प्रकार आधुनिक काल के साहित्य को खोजा है उसी प्रकार आदिकालीन साहित्य को नहीं। आदिकाल और मध्यकाल में हमारा इतिहास छिपा पड़ा है। वह अपने आप हमारे सामने नहीं आ सकता। प्राचीन साहित्य का प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक मूल्य रखता है। वस्तुतः अन्वेषण विशेषतः इसी युग के साहित्य की होनी चाहिये।

आधुनिक साहित्य की अनुसंधेयता

लेखक के कथन का यह आशय है कि पूर्वाधुनिक साहित्य में अनुसंधेयता का प्राचुर्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आधुनिक साहित्य में अनुसंधेयता है ही नहीं। आधुनिक युग भी अपनी विशेषता रखता है। आधुनिक साहित्य ने हमें जो दृष्टि दी है उससे देखने पर हमारा पुराना साहित्य भी कुछ अधिक अनुसंधेय बन जाता है। जो तत्त्व पुराने साहित्य में अधिक महत्त्व के नहीं समझे जाते थे अथवा जो अपनी किसी शक्ति के कारण विकास युगों में ही सीमित माने जाते थे आधुनिक युग ने उनको भी महत्त्व दिया है। इसीलिए वर्तमान काल में निर्माणकारिणी ऐतिहासिक शक्तियों का अनुसंधान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

अब दृष्टि बदल गयी है। जिस दृष्टि से पिछली युग के शास्त्र-सम्मत निरीक्षण-परीक्षण होता था आज वह बहुत भिन्न भिन्न हो चुकी है। आधुनिक साहित्य दृष्टान्त बन गया

है। अधिक समय नहीं हुआ जब विद्वान् लोग जीवित कवि या लेखक पर अनुसंधान करना हेय ही नहीं वर्जनीय समझते थे। विश्वविद्यालयों के विभागीय अधिकारी ऐसे विषयों को बड़ी घृणा से देखते थे और वे प्रस्तुत किये जाने पर रद्दी की टोकरी में डाल दिये जाते थे।

अब रुख बदल गया है और यह माना जाने लगा है कि किसी वर्तमान कवि या लेखक का व्यक्तित्व भी ऐतिहासिक महत्त्व पाने का अधिकारी हो सकता है और ऐसे व्यक्तित्व पर अनुसंधान किया जा सकता है। आधुनिक युग अपनी प्रवृत्तियों को लेकर अपने किसी युग-प्रवर्तक कवि या लेखक को भुला नहीं सकता क्योंकि वे प्रवृत्तियाँ और उनके प्रवर्तकों की परिस्थितियाँ (भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक) स्वयं अनुसंधेय हैं, किन्तु यह अनुसंधेयता सर्वव्यापिनी नहीं है। आधुनिक युग पर अनुसंधान करने वाले व्यक्ति को पात्रता के संबंध में वस्तुपरकता से काम लेना चाहिये।

आधुनिक साहित्य से संबंधित अनुसंधान-कार्य बहुत आशा-जनक है। आधुनिक विषयों पर दर्जनों ही उपाधियाँ मिल चुकी हैं। यह प्रगति गर्व का विषय है। इन अनुसंधाताओं की एक स्वस्थ प्रवृत्ति यह है कि वे अछूते क्षेत्रों से सामग्री संकलित करते हैं। यद्यपि यह सामान्य विश्वास है कि केवल डिग्री को महत्त्व देने वाले व्यक्ति ही आधुनिक युग से संबंधित विषय चुनते हैं और यह भी समझा जाता है कि आधुनिक युग पर शोध कार्य बहुत सरल है। इसमें आंशिक सत्य हो सकता है पर यह बात सर्वथा सत्य नहीं है क्योंकि सरल विषय भी वास्तविक अनुसंधान के सम्पर्क में चमक उठता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग से संबंधित कोई भी विषय 'पूरी पर का पूमा' होता है, यह भी भ्रम है। आधुनिक साहित्य में कुछ सूत्र इतने जटिल एवं विस्तीर्ण होते हैं कि उन्हें सुलझा कर एकत्र करना इतना सरल नहीं है जितना समझा गया है। अनुसंधाता को न केवल अनेक पुस्तकालयों में घूमना पड़ता है, वरन् अनेक व्यक्तियों, हस्तलेखों, समाचार-पत्रों से भी सिर मारना पड़ता है। और तो और, अनेक हिन्दी पत्रिकाओं के पीछे, न जाने कहाँ-कहाँ की खाक छाननी पड़ती है। इन सब साधनों से एकत्र की हुई सामग्री से अनुसंधाता अपना जो 'ग्रन्थ' निर्मित करता है, वह सरल नहीं बहुत कठिन कार्य है। आधुनिक साहित्य से संबंधित शोध-प्रबन्धों ने शोध-कार्य का उत्कृष्ट रूप व्यक्त किया है, उसमें चमत्कारिता है। अब शोध-कार्य अपने उपरिलिखित रूप में असमादृत नहीं होता। इसका कारण कुछ अच्छे शोध-कार्यों का प्रकाशित होना है। उनमें से अधिकांश आधुनिक साहित्य से संबंधित हैं। यह ऐसी उपलब्धि है जो गौरव की बात है।

कुछ कृतियों में प्रचार भी है लेखक की प्रशंसा भी है और ऊबा देने वाली लचर चर्चा भी है किन्तु ऐसे कार्य अधिक नहीं हैं। आधुनिक शोध-कार्य की एक बड़ी उपलब्धि यह भी है कि इसने अपने समय के साहित्य को भी बड़ी तत्परता से परखने का बीड़ा उठा

किया है। अनुसंधाता की गवेषणात्मक गंभीरता जितनी आधुनिक साहित्य में दिखायी देती है उतनी पूर्वाधुनिक में नहीं। हाँ आधुनिक साहित्य से संबंधित शोधात्मक उपलब्धियों से पुराना हिन्दी साहित्य भी उपकृत हुआ है क्योंकि उसे भी आधुनिक कसौटी पर कसने का सौभाग्य मिल रहा है। आदिकाल से संबंधित शोध-प्रबन्ध अँगुलियों पर गिनाये जा सकते हैं। 'सिद्ध साहित्य' आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ, 'चन्दबरदायी और उनका काव्य' 'गुरु गोरखनाथ और उनका युग' 'रासो की भाषा' 'पृथ्वीराज रासो का अध्ययन और लघुतम संस्करण का आलोचनात्मक संपादन' 'बीसलदेव रासो' आदि कुछ थोड़े से शोध-प्रबन्धों ने ही आदिकाल को प्रकाश दिया है।

यह बड़े हर्ष की बात है कि शोधकों ने मध्यकाल और आधुनिक काल के आलोडन विलोडन में विशेष रुचि व्यक्त की है। दर्शन धर्म सम्प्रदाय इतिहास समाज संस्कृति वाद प्रवृत्ति धारा विशेष कवि या लेखक विशेष कृति पृष्ठभूमि, आधार, मनोविज्ञान विकास या परम्परा साहित्यिक रूप नवीन साहित्य भाषा भाषा-विज्ञान आदि अनेक विषयों में इन युगों के साहित्य की व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति में योग दिया है। शोधकों ने मध्ययुग की अनेक कृतियों और व्याख्याओं को प्रकाश दिया है। फिर भी मध्यकाल में अभी बहुत-सी साहित्यिक सामग्री भरी पड़ी है, जिसकी गवेषणा अपेक्षित है।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि शोधक आदिकाल और मध्यकाल का नाम सुन कर प्राय चौंकता है क्योंकि इन युगों के साहित्य की जटिलता भाव और भाषा से विशेष संबंध रखती है। ग्रन्थों की खोज में इधर-उधर जाना पड़ता है हस्तलिखित प्रतियों के पढ़ने में कठिनता होती है और समय भी लगता है। उनके पढ़ने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसलिए अधिकांश अनुसंधित्सुओं का प्राय प्रश्न होता है—'क्या यह साहित्य प्रकाशित है?' कुछ अनुसंधित्सुओं की विवशता तो विचारहीन हो सकती है किन्तु अच्छे प्रतिष्ठान में जो अधिक काम पूर्वाधुनिक काल से बचना चाहते हैं। शोध के लिए आधुनिक उपन्यास कहानी निबन्ध नाटक काव्य समीक्षा आदि का नाम सुनकर वे प्रसन्न हो जाते हैं। शायद इसे वे सरल समझते हैं। जिन तथ्यों को लेकर आधुनिक काल का साहित्य लिखा-पढ़ा जा रहा है उनके प्रकाश में आदि काल के साहित्य को भी तो देखा जा सकता है। आधुनिक साहित्य से संबन्धित कुछ शोध-कार्य आलोचना की ओर अधिक झुक गया है जो शोध की प्रकृति के प्रतिकूल है। गवेषणा और आलोचना का संबन्ध अवश्य है किन्तु आलोचना गवेषणा का स्थान नहीं ले सकती। गवेषणा पूर्वाधुनिक काल पर आधारित होकर आलोचना में उत्कर्ष पैदा कर सकती है।

स्वीकृत शोध-विषयों की वर्गीकृत सूची

सूची की आवश्यकता

आवश्यकता आविष्कार की जननी है । अब तक अनुसन्धित्सुओं निरीक्षकों और विश्वविद्यालयों के सामने यह समस्या थी कि कैसे जाना जाये कि अमुक विषय अभी अछूता है । अनुसंधाता को यह सन्देह बना रहता था कि अमुक विषय पर किसी अन्य विश्वविद्यालय मे तो शोध-कार्य नहीं हो रहा है । निरीक्षक भी नई विषयों के संबंध मे या तो अपनी अज्ञता प्रकट करता था या अनुसंधाता के सन्देह मे अपने सन्देह को जोड़ देता था । इस स्थिति मे कई बार एक ही विषय पर दुहरा-तिहरा या उससे भी अधिक कार्य होता रहा था । अब इस सूची के कारण विषयावृत्ति के लिए अधिक अवकाश नहीं रहेगा । गवेषकों निर्देशकों और विश्वविद्यालयों के लिए यह सूची बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी । इसके अतिरिक्त शोध-कार्य कुछ आगे भी बढ़ेगा और उसके क्षेत्र का विस्तार होगा । अब तक शोधार्थियों को विषय के चुनने मे बड़ी कठिनाई होती थी । अब कोई भी शोधार्थी लगभग दो सहस्र विषयों की सूची के आधार पर किसी विषय की समकल्पना कर सकता है । इससे उसे विषय सूझ सकता है । आवृत्ति के कारण शोध-क्षेत्र मे प्रगति जिस अंश तक बाधित हो रही थी अब उसकी सम्भावना घट कर रहेगी । इससे शोध-विषयों को अधिक वैविध्य मिलेगा श्रम और समय की बचत होगी और अनुसंधाता के विश्वास को दृढ़ता मिलेगी ।

प्रेरणा

लेखक को इस सूची की प्रेरणा 'शोध की प्रक्रिया' 'अनुसंधान का विवेचन' ज्ञान-पीठ-पत्रिका अनुशीलन आदि से मिली है । विषय-वर्गीकरण के संकेत डा० दीनदयालु गुप्त डा० हरवंशलाल और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के लेखों से प्राप्त किये गये हैं । मैं इन सिद्धान्तों के विभाजन से पूर्णतया तो सहमत नहीं हूँ किन्तु इनके लेखों से मेरी बौद्धिक भूमिका निर्मित हुई है । डा० उदयभानुसिंह ने भी इनके वर्गीकरण के आधारों की सहायता ली है, किन्तु उन्होंने कुछ हेर फेर भी किया है । परिवर्तन प्रस्तुत वर्गीकरण में भी ठीक सम्भव है, किन्तु इसमें वर्ग-संख्या कम करने की प्रवृत्ति स्पष्ट है । इन वर्गों को अधिक व्यापकता देने का प्रयत्न किया गया है और यह भी ध्यान रखा गया है कि कोई-सा भी पक्षपातक होने पर वह विषय किसी एक वर्ग में ही संनिविष्ट न हो जावें । फिर भी कुछ विषयों की साम्य वैषम्य-मूलक जटिलता ने इस नियम का पालन सर्वत्र नहीं होने दिया है । वस्तुतः इसका आर्थिक पालन कठिन भी है । जिन

वर्षों में यह सूची प्रकाश में आयी है। इसमें मौलिक-जैसी कोई बात नहीं है; किन्तु श्रम-साध्यता और विपुल प्रयत्न अवश्य है। लेखक को एक नये वर्गीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई थी इसीलिए यह प्रस्तुत किया गया है। आगे इसका भी संशोधन एवं नवीनीकरण हो सकता है। प्रतिभा के किसी विशेष कोने में वर्गीकरण के नये आधार मिल सकते हैं।

कुछ दुर्बलताएँ

इस सूची को तैयार करने में डा० उदयभानुसिंह की कृति अनुसंधान का विवेचन ज्ञानपीठ-पत्रिका साहित्य परिषद के अनुसंधान अंक हिन्दी अनुशीलन और विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कुछ मित्रों के पत्रों से बड़ी सहायता मिली है। फिर भी इसमें कुछ त्रुटियों की सम्भावना है क्योंकि ज्ञानपीठ-पत्रिका में अनुसंधान की जो विवरणिका प्रस्तुत की गयी है उसमें पर्याप्त अशुद्धियाँ हैं। कुछ विश्वविद्यालयों से प्राप्त सूचना में भी कुछ त्रुटियाँ हैं, जिनको लेखक ने अपने बोध के अनुसार ठीक कर लिया है।

अशुद्धियाँ कई प्रकार की हैं—कहीं तो विषय ही गलत लिखे हुए हैं कहीं अपूर्ण बताया है सैकड़ों पत्र भेजने पर भी उनके विषय अविज्ञात हैं और कहीं—कहीं उपाधि मिलने पर भी कुछ विषयों का क्रम सूची में उल्लेख नहीं है। इस सूची में लेखक उसी सीमा तक संशोधन कर पाया है जहाँ तक कि उसे सही सूचना मिल सकी है।

अनेक सम्मिलित सूचियों की त्रुटियाँ लेखकों के सिर पर ही नहीं मढ़ी जा सकतीं इसके कुछ अन्य कारण भी हैं जैसे विश्वविद्यालयों के दफ्तरों की असावधानी अधिकारियों की असावधानी पत्रिकाओं में प्रूफ-संशोधन की भूलें आदि। फिर भी भूलें तो भूलें ही हैं चाहे वे किसी पत्र विशेष पत्रिका किसी प्रकाशित लेख या पुस्तक में हों। इतना अवश्य है कि लेखक ये खबर रखता है जिससे उसे कोई पाठक भूल नहीं समझ सकता। सभी सूचनाओं के सामने प्रामाणिकता के आक्षेप से मुक्त होना किसी भी लेखक के लिए दुष्कर ही नहीं असम्भव है। अतएव प्रस्तुत सूची के तैयार करने में संशोधन-सम्बन्धी विपुल प्रयास होते हुए भी त्रुटियों की सम्भावना को लेखक स्वीकार करता है।

वर्गीकरण की आवश्यकता

वर्गीकरण किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन का अंग होता है। इससे अध्ययन व्यवस्थित एवं सरल होता है। प्रत्येक वर्ग अध्ययन की अनेक इकाइयों में अपनी विशेषता से अपनी इकाई की पुष्टि करता हुआ पूर्ण अध्ययन को परिपुष्ट बनाता है। इस वर्गीकरण से पाठक जिज्ञासु या शोधार्थी को विषय—विषय की खोज में अधिक श्रम और समय की आवश्यकता नहीं होगी। उदाहरण के लिए हिन्दी उपन्यास पर शोधकार्य का अध्ययन—विवरण को ले सकते हैं। पाठक शीघ्र ही इस विषय को 'हिन्दी गद्य की विधाएँ'—

(२) कथा साहित्य के अन्तर्गत आ सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ग का उपवर्ग स्वयं अनुच्छेद इकाई के रूप में अनुच्छेदिका के समकक्ष माने की क्षमता रखता है। अध्ययन की सरलता तथा वैज्ञानिकता श्रम की सफलता समय की बचत एवं समान विषय की उपभाजना की दृष्टि से प्रस्तुत वर्गीकरण आवश्यक समझा गया है।

वर्गीकरण का आधार

प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय-सूची वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत की गयी है। विषय-वर्गीकरण में समन्वयात्मक मार्ग अपनाते हुए भी लेखक ने कुछ स्वतंत्रता से काम लिया है। विषयों की भिन्नता इन वर्गों का मूलाधार है। इस सूची के वर्गों में अधिक स्पष्टता है। अनेक विषयों की जिस समता-सूचक प्रवृत्ति ने वर्गीय स्पष्टता का बाधित किया है उसको इस वर्गीकरण में विशेष अवकाश नहीं मिला है। विषय और वर्ग में निकटतम संबंध का योजन ही इस वर्गीकरण का आधार है।

वर्गीकरण का स्वरूप

(क) वर्ग-परिचय

सब विषयों को इन अठारह प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है —

१ पहला वर्ग 'भाषा तथा बोली' का है। इसमें (क) सामान्य' (ख) 'विशेष (ग) (लिपिज्ञान,) (घ) 'लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे', (ङ) 'पाठानुसंधान' और (च) 'प्रकीर्ण' समाविष्ट हैं।

(क) सामान्य के अन्तर्गत भाषा तथा ऐतिहासिक प्रमाणात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टि से उपवर्ग किये गये हैं।

(ख) 'विशेष' के अन्तर्गत ध्वनि रूप (व्याकरण) अर्थ तथा कोश से संबंधित विषयों को एकत्र किया गया है।

(ग) 'लिपिज्ञान' में वे विषय संकलित किये गये हैं जो भाषा-विज्ञान के एक से अधिक अंगों से संबंधित हैं।

(घ) 'लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे' यह एक अलग वर्ग है।

(ङ) 'पाठानुसंधान' या पाठशोधन अपनी विशेषता रखता हुआ भी भाषा-वर्ग से भिन्न नहीं किया जा सकता इसलिए यह भी एक उपवर्ग के रूप में इसी वर्ग में समाविष्ट कर लिया गया है।

(च) प्रकीर्ण में वे विषय समाविष्ट हैं जो भाषा से संबंधित होते हुए भी किसी अलग उपवर्ग के अन्तर्गत नहीं आते जैसे, 'हिन्दी-भाषी एवं अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-शिक्षण'।

२ दूसरा वर्ग 'काव्यशास्त्र' का है। इसके अन्तर्गत ऐसे विषय चुने गये हैं जो काव्य शास्त्र या काव्य-सिद्धान्त से संबंध रखते हैं।

३ तीसरा वर्ग काव्य-सिद्धान्त-प्रयोग है। इस वर्ग के विषयों का सम्बन्ध कविता में सिद्धान्तों की गवेषणा करना है जैसे 'शब्द-शक्ति का स्वरूप और खड़ी बोली-हिन्दी-काव्य में उसका उपयोग'।

४ चौथा वर्ग कविता (सामान्य) है। इस वर्ग के विषय काव्य-सिद्धान्तों या काव्य-सिद्धान्त-प्रयोग से मुक्त हैं। वे सामान्य कविता से संबद्ध हैं। उनमें किसी काल-विशेष की कविता अभिलक्षित नहीं है जैसे 'हिन्दी-भक्तिकाव्य' या 'हिन्दी-काव्य में नियतिवाद'।

५ पाँचवाँ वर्ग- 'हिन्दी-कविता (पूर्वाधुनिक काल)' है। इस वर्ग के विषयों का लक्ष्य न तो शास्त्रीय विवेचना है और न सिद्धान्त-प्रयोग का अनुशीलन। इस वर्ग के विषय पूर्वाधुनिककालीन काव्य से सम्बद्ध हैं।

६ 'आधुनिक साहित्य (सामान्य)' छठा वर्ग है। इसमें वे विषय हैं जो आधुनिककालीन साहित्य से सम्बन्धित हैं किन्तु उनका किसी शैली-(गद्य-पद्य) का स्पष्ट भेद प्रकट नहीं होता है जैसे 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का स्वरूप विकास'।

७ सातवाँ वर्ग 'आधुनिक हिन्दी-कविता' है। इस वर्ग के विषयों में आधुनिक काव्य से सम्बन्धित अनेक पक्ष समाविष्ट हैं जैसे 'आधुनिक हिन्दी काव्य में सौन्दर्य भावना' 'आधुनिक हिन्दी कविता में [illegible]'।

आठवाँ वर्ग 'हिन्दी-गद्य (सामान्य)' है। 'हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास' 'हिन्दी-गद्य शैली का विकास' आदि विषय इसी वर्ग में सन्निविष्ट हैं।

९ 'हिन्दी-गद्य की विधाएँ' नवाँ वर्ग है। इसके तीन उपवर्ग हैं—नाटक, कथा साहित्य (उपन्यास तथा कहानी) तथा निबन्ध और आलोचना।

१० दसवें वर्ग में 'विशेष साहित्यकार या कृतिकार' हैं। इसके अन्तर्गत ये उपवर्ग हैं —

(क) आलोचना अध्ययन अनुशीलन तथा विवेचन (ख) इतिहास विकास (ग) साहित्य-सिद्धान्तों का प्रयोग (घ) पृष्ठभूमि भूमिका स्रोत और आधार, (ङ) परम्परा और धारा (च) समाज संस्कृति नीति धर्म (छ) दर्शन मनोविज्ञान (ज) तुलना (झ) प्रभाव देन योग (ञ) प्रकृति (ट) प्रकृति प्रेम सौन्दर्य (ठ) भाव और (ड) शैली।

११ ग्यारहवाँ वर्ग कृति विचार है। इसके भी पाँच उपवर्ग हैं। पहला उपवर्ग आलोचना अध्ययन विवेचन और अनुशीलन से सम्बन्धित है दूसरा परम्परा और धारा से और तीसरा वर्ग दर्शन और मनोविज्ञान से। चौथे में इतिहास और विकास है। पाँचवें में तुलना है। छठा साहित्य-सिद्धान्त से संबंधित है। सातवें में प्रभाव-निरूपण है।

नाटकों में लोक पृष्ठभूमि और आधार का अनुशीलन है। नवें उपवर्ग में 'समाज और संस्कृति' तथा दसवें में 'शैली' है।

१२ बारहवें वर्ग में 'पंथ और सम्प्रदाय' से संबंधित विषय हैं जैसे 'विश्नोई सम्प्रदाय'।

१३ वर्ग स्थान और प्रदेश से संबंधित विषय इसी वर्ग के अन्तर्गत संकलित हैं।

१४ चौदहवें वर्ग में संस्कृति समाज और नारी से संबंधित विषय हैं।

१५ 'लोक-साहित्य' नामक पन्द्रहवाँ वर्ग है।

१६ सामान्य साहित्य के परिपार्श्व में 'इतिहास—विकास' से संबंधित विषय सोलहवें वर्ग में संकलित किये गये हैं।

१७ 'तुलनात्मक अध्ययन' सत्रहवाँ वर्ग है।

१८ अन्त में 'प्रकीर्ण या विविध' विषय संचित है। इस वर्ग में वे विषय रखे गये हैं जो अन्य वर्गों में नहीं आ पाये हैं जैसे 'अपभ्रंश साहित्य' 'सिद्ध साहित्य' 'हिन्दी-जैन कथा-साहित्य' अथवा 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-गद्य' आदि।

तुलना और प्रभाव से संबंधित विषय बहुत प्रमुख हैं। इनमें से तुलना का तो एक वर्ग अलग ही बना दिया गया है किन्तु प्रभाव को विशेष कृति या साहित्यकार, पंथ आदि के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर दिया गया है जैसे 'पंजाबी सिक्खों का हिन्दी-निर्गुणियों पर प्रभाव'। इस विषय को 'सिक्ख' वर्ग के अन्तर्गत ही रख दिया गया है। इसी प्रकार 'हिन्दी-गद्य-शैली पर अखबार का प्रभाव' को 'हिन्दी-गद्य' (सामान्य) में सन्निहित कर दिया गया है।

उपर्युक्त शोध प्रबन्धों के आधार पर डा० सत्येन्द्र ने एक विवरणिका प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि अनुसंधान के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्त्व काव्य का रहा है। दूसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। तीसरा स्थान नाटकों को मिला है। उसके बाद व्यक्तिपरक विषयों को फिर आलोचना को। इसके बाद शास्त्रीय विषय आते हैं। भाषा और छन्द-शास्त्र का मूल्य शास्त्रीय विषय के समान रहा है। लोकवार्ता-विषयक अनुसंधान जो हुए हैं वह मात्र उल्लेखमात्र को मिला है। इसके उपरान्त सामान्य एवं विशेष कोशों, समाचार-पत्र आदि पर भी एक-एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है।

स्वातंत्र्योत्तर विषयों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इस महत्त्व क्रम में परिवर्तन उपस्थित हुए हैं। काव्य ने अपना स्थान सुरक्षित रखा है। वह अब भी सर्वप्रथम है। सबसे अधिक संख्या में कार्य इसी पर हो रहा है किन्तु दूसरा स्थान अब उपन्यास का हो गया है। तीसरा स्थान सामान्य साहित्य का है। इसके उपरान्त

व्यक्तिपरक विषयों और नाटक को समान अपेक्षा महत्त्व मिला है। आलोचना पाँचवें स्थान पर है। सामान्य पक्ष और शास्त्रीय विषय पर एक-एक प्रबन्ध हो रहा है।"

प्रस्तुत लेखक स्वीकृत शोध-विषयों की सूची के आधार पर इससे कुछ भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचा है—वह यह कि हिन्दी-अनुसंधाताओं का सबसे अधिक ध्यान 'विशेष साहित्यकार' ने आकृष्ट किया है। इसके बाद 'भाषा और बोली' का स्थान है। सबसे कम प्रिय 'इतिहास' रहा है। लेखक का अनुमान है कि 'भाषा और बोली' का स्थान शायद कुछ दिनों में पहला हो जायेगा।

इस विषय-सूची में अनेक विषयों के सामने पुष्प चिह्न(*) लगाये गये हैं जो स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की सूचना देते हैं। जिनके सामने 'कलकत्ता' आदि स्थानों के नाम दिये हुए हैं उन विषयों पर इन नामवाले विश्वविद्यालयों में अभी काम हो रहा है। यह समग्र सूची सन् १९६२ तक विविध विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हिन्दी-शोध-विषयों की सूचना देती है।

वर्ग-नामावली

1 भाषा तथा बोली

(क) सामान्य

क्र.सं	विषय	विश्वविद्यालय
	(i) वर्णनात्मक	
१	परिनिष्ठित हिन्दी का स्वरूप	प्रयाग
२	साहित्यिक हिन्दी—परिष्कार या मानकीकरण की स्थितियाँ	पंजाब
३	बैसवाड़े की जनपदीय भाषा	सागर
४	बैसवाड़ी बोली का वर्णनात्मक विश्लेषण	लखनऊ
५.	पूर्वी हिन्दी की बैसवाड़ी बोली का विवरणात्मक अध्ययन	प्रयाग
६	मगही और भोजपुरी के सीमा-प्रदेश की बोली का अध्ययन	•
७	कन्नौजी और उसका लोक साहित्य	लखनऊ
८	ब्रजभाषा	•
९	खड़ी बोली (मेरठ जनपद) के लोक गीतों का भाषा-वैज्ञानिक (वर्णनात्मक) अध्ययन	सागर
१०	दिल्ली नगर में व्यवहृत प्रमुख खड़ी बोली के विभिन्न रूप	दिल्ली
११	मेरठ जिले के अन्तर्गत तहसील बागपत की खड़ीबोली की भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	अलीगढ़
१२	दक्खिनी हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	कलकत्ता
१३	मथुरा जिले की बोलियाँ	•
१४	बुन्देली अंचल का भाषा-वैज्ञानिक-सर्वेक्षण	पटना
१५	जोधपुर जिले की बोली का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	जोधपुर
१६	मालवी भाषा और उसका स्वरूप	सागर
१७	मुंडारी—एक भाषा सर्वेक्षण	रांची (?)

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
४८	(गोरखबानी तथा नाथ सिद्धों की बानियों के आधार पर) हिन्दी नाथ-साहित्य की भाषा	आगरा
४९	सिद्धों की संधा-भाषा	*
५०	कबीर-ग्रन्थावली की भाषा	काशी
५१	कबीर की भाषा	दिल्ली
५२	कबीर की कृतियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	प्रयाग
५३	कबीर की भाषा का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
५४	भक्तिकालीन हिन्दी-संत-साहित्य की भाषा (सं १३७५ से १७०० तक)	*
५५	मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा	लखनऊ
५६	मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
५७	मलिक मुहम्मद जायसी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	कलकत्ता
५८	सूरदास की भाषा	*
५९	केशव की भाषा	लखनऊ
६०	केशव की भाषा	वेंकटेश्वर
६१	केशवदास की भाषा	गोरखपुर
६२	अष्टछाप-कवियों की भाषा का अध्ययन	लखनऊ
६३	तुलसीदास की भाषा	*
६४	केशवदास की भाषा का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
६५.	श्री एम डी [illegible] के पाठ के आधार पर रामचंद्रिका का भाषावैज्ञानिक अध्ययन	प्रयाग
६६	बिहारी की भाषा	लखनऊ
६७	मुद्रित एवं अमुद्रित सामग्री के आधार पर बिहारी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	प्रयाग
६८	महाकवि बिहारी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	पंजाब
६९	घनानन्द की भाषा का भाषा वैज्ञानिक और काव्य शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
७०	भूषण की भाषा का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
७१	भूषण की भाषा और उनके काव्य का अध्ययन	लखनऊ
७२	आधुनिक हिन्दी-काव्य-भाषा का अनुशीलन	सागर
७३	आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा	विक्रम

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
२	समाज और संस्कृति की दृष्टि से मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य (१४ से १७ ई० तक) की शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२१	सूरदास की ब्रजभाषा का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
(iii) प्रभावात्मक		
१	हिन्दी भाषा पर फारसी और अरबी का प्रभाव	काशी
(iv) तुलनात्मक		
१	ब्रजबुली (ब्रज भाषा और ब्रजबुली का तुलनात्मक अध्ययन)	*
२	गत सौ वर्षों में कविता के माध्यम के लिये ब्रजभाषा-खड़ीबोली विवाद की रूपरेखा	*
४	ब्रजभाषा एवं बुन्देलखंडी का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
४	खड़ीबोली (बोली) और साहित्यिक खड़ीबोली का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
५	हिन्दी तथा उर्दू का तुलनात्मक अध्ययन	पटना
६	प्रमुख बिहारी बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन	रांची
७	कन्नौजी बोली का अनुशीलन तथा ठेठ ब्रज से तुलना	*
८	मध्य पहाड़ी भाषा (गढ़वाली कुमाऊँनी) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध	*
९	जौनसारी और सिरमौरी भाषा तथा उनका लोक-साहित्य	आगरा
१	अलीगढ़ और बुलन्दशहर जिले की बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
११	खड़ीबोली (बोली) परिनिष्ठित हिन्दी तथा पंजाबी का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१२	कुमाऊँनी तथा गढ़वाली बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१३	भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण	काशी
१४	महाराष्ट्रीय सन्तों की हिन्दी-कविता एवं उत्तर भारतीय सन्त-कविता से उसका तुलनात्मक भाषा-शास्त्रीय तथा साहित्यिक विवेचन	विक्रम

क्रम०	विषय	विश्वविद्यालय

(ख) अङ्ग-विशेष

(i) ध्वनि

क्रम०	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसंधान	*
२	हिन्दी-भाषा का ध्वनिमूलक अनुसंधान	*
३	ध्वनि-विज्ञान तथा हिन्दी-ध्वनियाँ	विक्रम
४	हिन्दी की ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन	आगरा
५	ब्रज भाषा और खड़ी बोली की ध्वन्यात्मक रचना का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
६	भोजपुरी ध्वनियों और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन	*
७	बिहार के गया प्रदेश में बोली जानेवाली मगही का ध्वनिशास्त्रीय अध्ययन	पटना
८	बांगरू की वर्णनात्मक ध्वनि-प्रक्रिया	पंजाब
९	हिन्दी तथा पंजाबी की ध्वनियों का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब
१०	अलीगढ़ के स्थानीय वाक्-स्वभाव के आधार पर हकलाहट की वाक्-त्रुटियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन	आगरा
११	आगरा-मण्डल के उच्चतर माध्यमिक कक्षा के हिन्दी-छात्रों की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा उनके निवारणार्थ उपयुक्त शिक्षा योजना	आगरा

(ii) रूप

क्रम०	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी में व्याकरणिक कोटियाँ (Grammatical categories) एक आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
२	हिन्दी-व्याकरण-रचना-शास्त्र का उद्भव और विकास	पटना
३	हिन्दी-समास-रचना का अध्ययन	आगरा
४	संधि और हिन्दी	आगरा
५.	हिन्दी-सर्वनामों का विकास	रांची
६	प्रारम्भिक हिन्दी-गद्य का ऐतिहासिक वाक्य-विचार	*
७	हिन्दी-वाक्य-रचना	आगरा

क्र० सं	विषय	विश्वविद्यालय
८	हिन्दी-विभक्ति—परसर्गों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन	काशी
९.	हिन्दी-भाषा का रूप-वैज्ञानिक तथा वाक्य-वैज्ञानिक अध्ययन	*
१०	हिन्दी लिंग-निर्णय	आगरा
११	हिन्दी-क्रियाओं का अध्ययन	प्रयाग
१२.	हिन्दी की संयुक्त क्रियाएँ	काशी
१३	हिन्दी में प्रत्यय विचार	*
१४	ब्रजभाषा और खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन	*
१५.	खड़ीबोली हिन्दी के क्रिया-पदों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	आगरा
१६	खड़ीबोली की वाक्य-रचना	आगरा
१७	खड़ीबोली हिन्दी का वाक्य-विन्यास	काशी
१८	दक्खिनी का रूप-विकास	*
१९	प्रयोग—हिन्दी व्याकरण के आधार-रूप में	पटना
२०	डिंगल भाषा का व्याकरण	जोधपुर
२१	रुहेली बोली और उसका रूपात्मक अध्ययन	आगरा
२२	पश्चिमी पहाड़ी बोली की पंजाबी बोली का रूपात्मक अध्ययन	पंजाब
२३	बुन्देली—पद-रचना तथा वाक्य	*
२४	वैदिक भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण	*
२५.	एटा जिले की कसगंज तहसील की बोलियों का रूपात्मक अध्ययन	आगरा
२६	हिन्दी और पंजाबी का रूपात्मक अध्ययन	दिल्ली
२७	हिन्दी और पंजाबी का पद-विज्ञान एक तुलनात्मक और ऐतिहासिक विश्लेषण	पंजाब
२८	हिन्दी और मलयालम की रूप-रचना का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२९	हिन्दी और तेलुगु व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
३०	आधुनिक हिन्दी और तमिल की व्याकरणिक रचना	आगरा
३१	प्रारंभिक हिन्दी-गद्य के वाक्य-गठन का ऐतिहासिक अध्ययन	कलकत्ता
(iii) अर्थ		
१	हिन्दी में शब्द और अर्थ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	*
२	हिन्दी—अर्थ-विकास	*
३	हिन्दी अर्थ-विचार	*

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
४	हिन्दी भाषा के रागात्मक तत्त्व	आगरा
५	हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अर्थ-वैज्ञानिक अध्ययन (संस्कृत विभाग)	●
६	परिनिष्ठित हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों का अर्थ परिवर्तन	●
७	बैसवाड़ी का शब्द-सामर्थ्य	●
८	गढ़वाली का शब्द-सामर्थ्य	●
९	हिन्दी-भाषा में पर्याय तथा अनेकार्थ-वाचक शब्द	प्रयाग
१	हिन्दी-भाषा में पर्यायवाची शब्दों का स्थान	पंजाब
११	काव्य-शिल्प की दृष्टि से तुलसीदास के शब्द-समूह का अध्ययन	प्रयाग
१२	अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी एवं बंगला-शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन	भागलपुर
१३	तुलसी के मानस में शब्दार्थ-नियोजन	आगरा
(क)	सामान्य शब्दावली	
१	प्राचीन हिन्दी के शब्द-रूप	लखनऊ
२	हिन्दी की मूल शब्दावली का अध्ययन	प्रयाग
३	हिन्दी-भाषा में देशज शब्द	दिल्ली
४	हिन्दी के फारसी से आगत शब्दों का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
५	हिन्दी में अंग्रेजी से आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन	●
६	मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त व्यक्ति-वाचक नामों का अध्ययन	प्रयाग
७	हिन्दी-प्रदेश की हिन्दू-महिलाओं के नामों का वैज्ञानिक अध्ययन	विक्रम
८	बिहार के स्थान-नाम	पटना
९	अवध की जातियों के नामों का अध्ययन	प्रयाग
१०	हिन्दी-शब्द-समूह का अध्ययन	प्रयाग
११	हिन्दी की यौगिक शब्दावली	प्रयाग
१२	सूर सागर की शब्दावली का अध्ययन	●
१३	हिन्दी और मलयालम की समान शब्दावली का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	अलीगढ़
१४	आधुनिक हिन्दी तथा तमिल की समान शब्दावली का अध्ययन	आगरा

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१५.	हिन्दी कोश-साहित्य (१५०० – १८०० ई०) का आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन	*
१६	हिन्दी में कोश-रचना-शास्त्र का विकास	बम्बई
१७	हिन्दी-कोश का उद्भव और विकास	काशी

(ख) पारिभाषिक शब्दावली

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	संस्कृत-मूलक हिन्दी-पारिभाषिक शब्दावली का ऐतिहासिक सांस्कृतिक तथा भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	*
२	हिन्दी की समाज-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का आलोचनात्मक अध्ययन	दिल्ली
३	हिन्दी में विधि-शब्दावली	लखनऊ
४	हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का इतिहास	पटना
५.	कृषि तथा ग्रामोद्योग की शब्दावली—एक अध्ययन	*
६.	खड़ी बोली-भाषा-भाषी ग्रामों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द—विशेषतः मेरठ तथा बिजनौर के आधार पर	लखनऊ
७	कूर्माचल प्रदेश की औद्योगिक शब्दावली	लखनऊ
८	इलाहाबाद जिले की कृषि संबंधी शब्दावली का अध्ययन	*
९.	आज़मगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन	*
१०	कृषक जीवन सम्बन्धी-शब्दावली (अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर)	*
११	कृषक-जीवन-सम्बन्धी भोजपुरी शब्दावली (गाजीपुर जिले की बोली के आधार पर)	आगरा
१२	गाजीपुर जिले के लोकाचार तथा तत्सम्बन्धी शब्दावली	प्रयाग
१३	कबीर की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन	लखनऊ
१४	हिन्दी-(ब्रजभाषी) सन्त-साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली	भागलपुर
१५	अर्थ-विकास की दृष्टि से 'हिन्दी-सन्त-साहित्य' के दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दों का अध्ययन	पंजाब
१६	रामचरित-मानस की पारिभाषिक शब्दावली का अनुशीलन	आगरा

क्र सं०	विषय	विश्वविद्यालय
३	मलिक मुहम्मद जायसी के पदमावत का सटिप्पण संपादन और अनुवाद—१६ वीं शताब्दी की हिन्दी-भाषा (अवधी का अध्ययन)	*
४	शाह बरकत उल्लाह पेमी कृत 'प्रेम प्रकाश' का अनुसंधान संपादन और अध्ययन	*
५	बीसलदेव रासो—पाठ, अध्ययन एवं विवेचन	*
६	तुलसीदास की कृतियों की पाठ-समस्याओं का अनुशीलन	काशी
७	भक्तमाल और भक्तमाल पर लिखी प्रियादास की टीका का पाठ तथा पाठ-सम्बन्धी समस्या	प्रयाग
८	देव के सम्पूर्ण ग्रन्थों का पाठ तथा तत्सम्बन्धी पाठालोचन की समस्याएँ	*
९	संत रेणु के 'नासकेत विवाद' का पाठ-निर्धारण आलोचनात्मक भूमिका के सहित	पंजाब
१०	भाई गुरदास के 'वाक्य-धार' का आलोचनात्मक संपादन आलोचना-त्मक भूमिका के सहित	पंजाब
११	मेहरबानसिंह कृत 'प्रबोध सागर' का आलोचनात्मक अध्ययन एवं संपादन	बड़ौदा

(ख) प्रकीर्ण

क्र सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-भाषा-शिक्षण की समस्याएं तथा उनके समाधान (भाषा-विज्ञान की दृष्टि से)	आगरा
२	हिन्दी-भाषी एवं अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में हिन्दी-शिक्षण	दिल्ली
३	हिन्दी-भाषा और साहित्य को विदेशियों की देन एक मूल्यांकन	लखनऊ
४	हिन्दी (भाषा व्याकरण और साहित्य) को पाश्चात्य विद्वानों की देन	विक्रम

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
२३	औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी-काव्य-शास्त्र	आगरा
२४	हिन्दी-काव्य-शास्त्र में दोष-विवेचन	•
२५.	काव्य-बोध और उसका विकास	राजस्थान
२६	हिन्दी-काव्य-शास्त्र में गुण विवेचना	दिल्ली
२७	अलंकारों का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन	सागर
२८	हिन्दी-अलंकार शास्त्र	नागपुर
२९.	(संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों के आधार पर) अलंकारों के स्वरूप विकास का शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
१	हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार-ग्रंथों पर संस्कृत का प्रभाव (संवत् १७००-१९०० वि०)	•
११	रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन	पंजाब
१२	उपमा अलंकार का विवेचन	दिल्ली
१३	नायक-नायिका भेद	•
१४	हिन्दी-छंद-शास्त्र	•
१५.	कवि-समय-मीमांसा	•
१६	सत्यं शिवं सुन्दरम्	•
१७	भारतीय साहित्य शास्त्र तथा हिन्दी-साहित्य के समीक्षा-सिद्धान्त	सागर
१८	रीति-काव्य के स्रोत	काशी
१९.	राजस्थानी का छन्द-विधान	जोधपुर

प्रभाव

४	हिन्दी-काव्य शास्त्र पर संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रभाव	आगरा
४१	हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार-ग्रंथों पर संस्कृत का प्रभाव	आगरा

3 काव्य सिद्धान्त प्रयोग

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१९	मध्ययुगीन निर्गुण भक्ति-काव्य में शान्त रस (१४००-१७००)	दिल्ली
२०	मध्ययुगीन सगुण भक्ति-काव्य में शान्त रस (संवत् १४००-१७००)	दिल्ली
२१	हिन्दी-काव्य में वीर रस	नागपुर
२२	हिन्दी-काव्य मे करुण रस (१४००-१७०० ई)	*
२३	हिन्दी-काव्य मे करुण रस	*
२४	आधुनिक हिन्दी-कविता मे करुण रस	राजस्थान
२५	हिन्दी साहित्य मे हास्य रस	*
२६	बीभत्स रस और हिन्दी-साहित्य	पंजाब
२७	उत्तर मध्यकालीन हिन्दी-कविता में रस चतुष्टय—वीर, बीभत्स भयानक और रौद्र	आगरा
२८	हिन्दी-काव्य मे वात्सल्य रस	*
२९	हिन्दी-साहित्य मे वात्सल्य रस	पटना
३०	भक्ति-युग मे वात्सल्य रस का अध्ययन	आगरा
३१	हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति-साहित्य (संवत् १५००-१७००) मे वात्सल्य और सख्य का निरूपण	*
३२	आधुनिक हिन्दी-काव्य मे वात्सल्य रस	*
३३	वात्सल्य रस और सूर	सागर
३४	हिन्दी-रीतिकाव्य में रसाभास	दिल्ली
३५	शब्द-शक्ति का स्वरूप और खड़ी बोली हिन्दी-काव्य मे उसका उपयोग	आगरा
३६	ध्वनि-सिद्धान्त और हिन्दी मे उसका स्वरूप	पटना
३७	आधुनिक हिन्दी-कविता मे ध्वनि	बम्बई
३८	ध्वनि-सिद्धान्त और छायावादी कविता में उसकी अभिव्यक्ति	आगरा
३९	मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में शृ गार वासना	जोधपुर
४०	वक्रता और उसका प्रसार	*
४१	क्षेमेन्द्र का औचित्य-सिद्धान्त और हिन्दी-काव्य	सागर
४२	हिन्दी साहित्य मे अलंकार	*
४३	आधुनिक हिन्दी-काव्य मे अलंकार-विधान	*

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
४४	आधुनिक-काल की हिन्दी-कविता (१८५०-१९५) में अलंकार योजना	•
४५.	छायावादी हिन्दी-कविता में अलंकार-योजना	आगरा
४६	हिन्दी में शब्दालंकार—उद्भव और विकास	दिल्ली
४७	हिन्दी महाकाव्यों में नायक	•
४८	हिन्दी में छन्दों का विकास	पटना
४९	मानस व काव्य में छन्द-योजना	आगरा
५	मध्यकालीन हिन्दी-छन्द का ऐतिहासिक विकास	•
५१	मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन	•
५२	मध्यकालीन हिन्दी में प्रयुक्त वर्णिक छन्दों (कवित्त और सवैया) का अध्ययन	पटना
५३	रीतिकाल के विशिष्ट सन्दर्भ में हिन्दी-काव्य में छन्द-शास्त्र का विकास	पंजाब
५४	आधुनिक हिन्दी-कविता में छंद	•
५५.	हिन्दी में मुक्तक छंद का आरम्भ और विकास (निराला की छन्द-योजना के विशेष अध्ययन सहित)	सागर
५६	हिन्दी में अनुकान्त छन्द-योजना का विकास	दिल्ली
५७	हिन्दी-काव्य के रूप तथा उनका शिल्प	पंजाब
५८	हिन्दी-काव्य में कल्पना-विधान (आधुनिक हिन्दी-कविता में रूप-विधान)	•
५९.	आधुनिक हिन्दी-काव्य में कवि-कल्पना का स्वरूप और उसकी विवेचना	•
६	आधुनिक हिन्दी-काव्य में शृंगार-भावना	नागपुर
६१	आधुनिक हिन्दी-काव्य में बिम्ब	•
६२.	आधुनिक हिन्दी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान	पंजाब
६३	आधुनिक हिन्दी-काव्य में अप्रस्तुत-विधान	गोरखपुर
६४	आधुनिक हिन्दी-साहित्य के बदलते हुए मानों का अध्ययन	•
६५	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूपों के प्रयोग—एक अध्ययन	•
६६	आधुनिक हिन्दी-कविता का शिल्प-विधान	•
६७	आधुनिक हिन्दी-कविता का काव्य-शिल्प	•
६८	आधुनिक हिन्दी-काव्य में रूप-विधान	•

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
९५.	हिन्दी-काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१४५ १९५ तक)	प्रयाग
९६	हिन्दी-काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन (१५ १९ ० तक)	गोरखपुर
९७	हिन्दी-वीरकाव्य (१६ ०-१८ ई)	•
९८	हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूढ़ियाँ	लखनऊ
९९.	हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति	•
१००	हिन्दी में अन्योक्ति-काव्य	आगरा
१०१	हिन्दी-साहित्य में अन्योक्ति-योजना	लखनऊ
१ २	संस्कृत-अन्योक्ति-काव्य के संदर्भ में हिन्दी-अन्योक्ति-काव्य का अध्ययन	मैसूर
१ ३	चित्रकाव्य	उस्मानिया
१ ४	हिन्दी में चित्रकाव्य की परम्परा	पटना
१ ५	हिन्दी-काव्य की निर्गुणधारा में भक्ति का स्वरूप	•
१ ६	हिन्दी-भक्ति-शृंगार का स्वरूप	•
१ ०	मध्यकालीन हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य में कथानक-रूढ़ियाँ	पंजाब
१ ८	हिन्दी-सूफी-काव्य के प्रतीक और रूपक	राँची
१ ७	हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
१०८	सूफी-काव्य में रस-व्यंजना	आगरा
१०९	ब्रज भाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य-भक्ति	•
११	हिन्दी-कृष्ण-काव्य में माधुर्य-उपासना	•
१११	कृष्ण-भक्त कवियों की परम विरहासक्ति	लखनऊ
११२	भक्ति-कालीन-कृष्ण कवियों की विरह-भावना	दिल्ली
११३	कृष्ण-भक्ति में विरह-भावना (१६ से १७ तक)-	अलीगढ़
११४	हिन्दी-भक्ति-काव्य में सखीभाव	•
११५	अष्टछाप के कवियों की रस-साधना	अलीगढ़
११६	राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना	•
११७	रीतिकाव्य के काव्यात्मक रूढ़ियाँ	पंजाब
११८	रीति-काव्य में काव्य-रूढ़ियाँ	दिल्ली
११९	रीतिकालीन काव्य में भक्ति-तत्त्व	दिल्ली
१२	रीतिकाव्य में भक्ति का रूप	प्रयाग
१२१	१८ वीं शताब्दी में प्रेमवर्णन (ब्रजभाषा कविता)	•
१२२	रीतिकाव्य में कला-विधान	•

क सं	विषय	विश्वविद्यालय
१२३	रीतिकाल के रीति कवियों का काव्य-शिल्प	आगरा
१२४	रीतिमुक्त-काव्यों का काव्य-शिल्प	दिल्ली
१२५.	रीतिकालीन हिन्दी-कविता में स्त्रियों के सौन्दर्य-प्रसाधन	आगरा
१२६-	हिन्दी-साहित्य में स्वभावोक्ति	दिल्ली
१२७	हिन्दी-वीर काव्य (१६ से १८ ई तक)	*
१२८	कृष्ण-संप्रदाय में मधुर रस	काशी
१२९.	हिन्दी-काव्य में विरह-भावना (१७ से १९)	आगरा
१३०	हिन्दी-साहित्य के निर्गुण सम्प्रदाय (१५ वीं और १६ वीं शताब्दी) में मधुर भक्ति के तत्त्व	अलीगढ़
१३१	आधुनिक हिन्दी-काव्य में कवि-कल्पना का स्वरूप	*
१३२	रीति-बद्ध और रीति-मुक्त कवियों का शिल्प-विधान	काशी
१३३	हिन्दी-काव्य में शान्त रस	जोधपुर
१३४	हिन्दी-काव्य में वात्सल्य-रस	जोधपुर

क सं	विषय	विश्वविद्यालय
२६	हिन्दी मे जैन-भक्त-साहित्य	आगरा
२७	हिन्दी के विशेष सदर्भ में रासो-साहित्य का अध्ययन	प्रयाग
२८	हिन्दी-रासो-काव्य-परम्परा	लखनऊ
२९	रासो-काव्य-धारा	शान्तिनिकेतन
३	हिन्दी-मुक्तकों का स्वरूप और विकास	आगरा
३१	गीति-काव्य का उद्गम विकास और हिन्दी-साहित्य मे उसकी परम्परा	*
३२	हिन्दी में गीति काव्य	नागपुर
३३	हिन्दी-गीति-काव्य	*
३४	हिन्दी-सतसई-काव्य का अध्ययन	प्रयाग
३५	हिन्दी मे सतसई-साहित्य	लखनऊ
३६	सस्कृत-शृंगार शतकों के परिवेश मे हिन्दी-शृंगार शतकों का अध्ययन	गोरखपुर
३७	हिन्दी-कविता की स्तोत्र-परम्परा	राजस्थान
३८	हिन्दी का समस्या-पूर्ति-काव्य	*
३९	हिन्दी में समस्या-पूर्ति की परम्परा का विकास	पटना
४	हिन्दी-कविता मे जनवादी प्रवृत्तियाँ	*
४१	हिन्दी-कविता मे राष्ट्रीय भावना	लखनऊ
४२	हिन्दी-काव्य मे राष्ट्रीयता	गुजरात
४३	हिन्दी-साहित्य मे राष्ट्रीय काव्यधारा का विकास	*
४४	हिन्दी काव्य-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का विकास	पटना
४५	हिन्दी की राष्ट्रीय कविता	कलकत्ता
४६	हिन्दी-काव्य मे यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ	अलीगढ़
४७	हिन्दी-कृष्ण-काव्य का मनोवैज्ञानिक पक्ष	जोधपुर
४८	हिन्दी-कविता मे प्रकृति-चित्रण	*
४९	हिन्दी-काव्य मे ऋतु-वर्णन	नागपुर
५	हिन्दी-काव्य मे षड्ऋतु और बारहमासा साहित्य	लखनऊ
५१	हिन्दी का बारहमासा-साहित्य—उसका इतिहास तथा अध्ययन	*
५२	हिन्दी में षड्ऋतुवर्णन-काव्य	*
५३	(हिन्दी की ब्रजभाषा) कुमायूँनी के कवियों (१ -१९९ ई) का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
११२	हिन्दी-काव्य में राधा	आगरा
११३	कृष्ण-काव्य में लीलावर्णन	दिल्ली
११४	कृष्ण-काव्य में भ्रमर-गीत	*
११५	हिन्दी में भ्रमर-गीत-काव्य और उसकी परम्परा	*
११६	हिन्दी-साहित्य में भ्रमर-गीत-परम्परा	पंजाब
११७	हिन्दी में रुक्मिणी-काव्य	आगरा
११८	कृष्ण-काव्य में ग्राम्य-जीवन	लखनऊ
११९	राम-कथा—उत्पत्ति और विकास	*
१२०	हिन्दी तथा गुजराती का राम-साहित्य	बड़ौदा
१२१	हिन्दी में राम-काव्य	जबलपुर
१२२	रामभक्ति और हिन्दी-साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति	*
१२३	हिन्दी में राम-विषयक जैन-साहित्य	आगरा
१२४	हिन्दी-साहित्य के आधार पर राम के स्वरूप का अध्ययन	लखनऊ
१२५.	विभिन्न युगों में सीता का चरित्र-चित्रण तथा तुलसीदास में उसकी चरम परिणति (संस्कृत)	*
१२६	हिन्दी-काव्य में सीता का स्वरूप	पंजाब
१२७	हिन्दी-काव्य में सीता का स्वरूप	दिल्ली
१२८	राम-काव्य (भक्ति-काल से आधुनिक काल तक) में पात्रों का विकास	आगरा
१२९	महाभारत और हिन्दी-साहित्य	*
१३०	हिन्दी और उड़िया वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१३१	हिन्दी और मराठी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१३२	श्रीमद्भागवत का हिन्दी-कृष्ण-साहित्य पर प्रभाव	*
१३३	वैदिक दर्शन का हिन्दी-कविता पर प्रभाव	आगरा
१३४	१९ वीं शताब्दी के कृष्ण-काव्य का बाद के हिन्दी-काव्य पर प्रभाव	प्रयाग
१३५.	हिन्दी-कविता पर विदेशी प्रभाव	नागपुर
१३६	हिन्दी-साहित्य और भाषा पर प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव	*
१३७	हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर पौराणिक प्रभाव	*
१३८	संत-साहित्य पर उपनिषदों का प्रभाव	लखनऊ

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१३९	परवर्ती सन्त-काव्य पर तांत्रिक प्रभाव (१० ई के पश्चात्)	आगरा
१४	सिद्ध-सम्प्रदाय और उसका हिन्दी के भक्ति-काव्य पर प्रभाव (संस्कृत)	*
१४१	हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियों पर नाथपंथ का प्रभाव	*
१४२	सूफीमत और सन्त-काव्य पर उसका प्रभाव	लखनऊ
१४३	सूफी-सम्प्रदाय का कृष्ण-भक्ति-काव्य पर प्रभाव	अलीगढ़
१४४	हिन्दी-साहित्य पर निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्रभाव	प्रयाग
१४५.	निम्बार्क-सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य पर प्रभाव	लखनऊ
१४६	हिन्दी-साहित्य पर वैष्णव-प्रभाव	काशी
१४७	कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य-भावना	अलीगढ़
१४८	हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव (११ ई से आगे)	कानपुर

5 ‖ हिन्दी-कविता (पूर्वाधुनिक काल)

१ मध्यकालीन हिन्दी-मुक्तक काव्य—उद्भव और विकास — गोरखपुर

२, हिन्दी-काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (१६७५ ई तक) — •

३ हिन्दी-काव्य में वेदान्त का स्वरूप (सं १७ तक) — आगरा

४ हिन्दी में गीति-काव्य का विकास (स १६ वि तक) — •

५. हिन्दी-गीति-काव्य (आदिकाल से भारतेन्दु तक) — •

६ वैष्णव भक्ति-काव्य और भारतीय संगीत का परस्पर सम्बन्ध (आदिकाल से रीतिकाल के अन्त तक) — आगरा

७ हिन्दी-साहित्य (११ वी से १८ वी शती तक) में काव्य-रूप — आगरा

८ मध्यकालीन ऐतिहासिक काव्य — गोरखपुर

९ वैदिक भक्ति और हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति — •

१ हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य — •

११ भारतीय देव-भावना और मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में चित्रित उसका स्वरूप — आगरा

१२ हिन्दी-साहित्य के भक्ति और रीतिकालों में प्रकृति और काव्य — •

११ पुष्पटी हस्तलिखित पद-संग्रह में प्राप्त मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन — प्रयाग

१४ मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य के प्रेम-गाथा-काव्य और भक्ति-काव्य में लोक-वार्ता-तत्त्व — •

१५ मध्ययुग की हिन्दी-कविता में माधुर्य-भावना-मूलक भक्ति का विकास — राजस्थान

१६ मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में अवतारवाद — •

१७ मध्यकालीन हिन्दी-कविता में योग — •

१८ मध्ययुगीन जैन-हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद और उसका तुलनात्मक विवेचन — आगरा

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१९.	मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद	पंजाब
२	मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य मे रहस्यवाद (सं १६ वि तक)	आगरा
२१	मध्यकालीन भक्ति-साधना में प्रेम का स्वरूप	काशी
२२.	मध्यकालीन हिन्दी-कविता म भारतीय तत्व	लखनऊ
२३	हिंदी के आदि काल मे लौकिक काव्य का अध्ययन	प्रयाग
२४	आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ	*
२५	हिन्दी-साहित्य में काव्य-रूप (? वी से १४ वी शती तक)	आगरा
२६	भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य मे प्रेम के विविध प्रयोग	राजस्थान
२७	भक्तिकालीन हिन्दी-काव्य मे मानवतावादी चेतना	पंजाब
२८	भक्ति-कालीन हिन्दी-साहित्य मे योग-भावना	*
२९	भक्तिकालीन राम-गीता के पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	काशी
३	हिन्दी-भक्ति-काव्य (१४ ०-१६) की पौराणिक कथाओं का उद्गम और विकास	प्रयाग
३१	सगुण तथा निर्गुण मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन (१४ से १७ तक)	प्रयाग
३२	हिन्दी के भक्ति-काव्य में जैन साहित्यकारों का योगदान (सं १४ से १ तक)	*
३३	१२ वी शती से १७ वी तक हिन्दी-साहित्य के काव्य-रूपों का अध्ययन	*
३४	मध्यकालीन (१२ वी और १६ वी शताब्दी) ब्रजभाषा-काव्य की गीत-शैली का विकास और उसमें संगीत का योगदान	आगरा
३५	निर्गुण काव्य का मूल तथा उसका प्रारंभिक विकास	प्रयाग
३६	हिन्दी के निर्गुण भक्ति-काव्य में औपनिषदिक विचारधारा (कबीर-नु पर्यन्त)	आगरा
३७	चरणदास सुंदरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार	*
३	१ वीं-१६ वी शती के निर्गुण काव्य का विवेचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
३९	धार्मिक दृष्टिकोण से मध्ययुगीन संत-साहित्य का समीक्षण	सागर
४	मध्यकालीन हिन्दी-संत-साहित्य	*
४१	मध्यकालीन-हिन्दी संत-साहित्य की साधना-पद्धति	*
४२	१५ वी शती के संत-साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	आगरा
४३	१४ वी तथा १५ वी शती के संत-साहित्य में सर्वोदय-भावना	आगरा

क्र.सं	विषय	विश्वविद्यालय
४४	संतमत का आचार-दर्शन	पटना
४५.	मध्यकालीन संतों की रहस्य-साधना	आगरा
४६	मध्यकालीन हिन्दी-संत-साहित्य में मानवतावादी विचार-धारा	दिल्ली
४७	जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी-कवि	*
४८	सिद्ध-नाथ-साहित्य का दार्शनिक एवं सामाजिक अध्ययन	कलकत्ता
४९	मध्ययुगीन (१२ वी से १६ वी शती तक) हिन्दी के प्रेमाख्यानक-काव्य में आख्यान	आगरा
५	सगुण भक्त कवियों के प्रतीत काव्य का अनुशीलन (सं १६ १ से १७० तक)	विक्रम
५१	मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म कृष्ण-भावना (१५ से १८)	आगरा
५२	मध्य-युगीन हिन्दी-साहित्य में कृष्ण (विकास-वार्ता)	*
५३	अष्टछाप की गोपियों का मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक अध्ययन	प्रयाग
५४	अष्टछाप मे प्रकृति-चित्रण	लखनऊ
५५.	अष्टछाप के कवियों की सौन्दर्यानुभूति	काशी
५६	अष्टछाप के कवियों का रूप-वर्णन	दिल्ली
५७	अष्टछाप की राधा तथा गोपियाँ	पटना
५८	मध्यकालीन जैन लोक-कवियों की हिन्दी-सेवा	जबलपुर
५९.	१६ वी तथा १७ वी शताब्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे गोपियाँ	अलीगढ़
६	भक्ति-कालीन कृष्ण-काव्य मे राधा का स्वरूप	*
६१	कृष्ण-भक्ति-काव्य मे प्रेम और सौन्दर्य (१५ वी १६ वी शती)	अलीगढ़
६२	कृष्ण-काव्य धारा मे मुसलमान कवियों का योग-दान (१६ ०-१८५)	*
६३	हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य मे रीति-काव्य परम्परा	*
६४	हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में कवीन	*
६५	तुलसी-पूर्व राम-साहित्य	लखनऊ
६६	तुलसी के परवर्ती राम-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
६७	मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-काव्य के आधार पर विविध भक्ति-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग

क्र०सं०	विषय	विश्वविद्यालय
६८	भक्ति-कालीन हिन्दी-कविता में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ (राम भक्ति शाखा)	•
६९	हिन्दी-साहित्य में भक्ति और रीति की सन्धिकालीन प्रवृत्तियों का विवेचनात्मक अनुशीलन	•
७०	रीति-कालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	•
७१	रीतिकालीन सतसई-साहित्य	दिल्ली
७२	शृंगार-काल (१७ –१९ ई) तथा उसकी कविता का पुनर्मूल्यांकन	आगरा
७३	हिन्दी का रीति-युगीन काव्य—साहित्यिक अनुशीलन	सागर
७४	रीतिकालीन कविता में प्रेम और सौन्दर्य	लखनऊ
७५	रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना	•
७६	रीति-स्वच्छन्द काव्य-धारा	विक्रम
७७	रीति-कवियों की प्रतिभा और कल्पना	काशी
७८	रीतिकाव्य में सौन्दर्य-बोध	आगरा
७९	रीतिकालीन भक्तिधारा-काव्य	गोरखपुर
८	रीतिकालीन निर्गुण भक्ति-काव्य	आगरा
८१	हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-काव्य (१७ से १९)	प्रयाग
२	विक्रम की १९ वीं शती में ब्रजभाषा का प्रेम-भक्ति-साहित्य	आगरा
८३	रीतिकालीन हिन्दी-वीर-काव्य में ऐतिहासिक तत्त्व	लखनऊ
८४	रीतिकाल के प्रमुख प्रबन्ध-काव्य (१७ से १९)	आगरा
५	सन् १७ से १९ के हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य	लखनऊ
८६	रीतियुगीन रीतिमुक्त स्वच्छन्दतावादी मुक्तक काव्य	लखनऊ
८७	१८ वीं–१९ वीं शताब्दी के काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका शैली-तत्त्व	आगरा
८८	मध्यकालीन भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	काशी
८९	कृष्ण-कथा की परंपरा और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में उसका स्वरूप	काशी
९	रीतिकालीन वीर-काव्य (राजस्थानी-साहित्य को लेकर)	काशी
९१	हिन्दी के रीति-मुक्त कवियों का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
९२	हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में वनस्पति वर्णन	लखनऊ
९३	हिन्दी के रीतिकालीन काव्य में पत्र-पुष्प-वर्णन	सागर
९४	रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	•
९५	शृंगार युग में संगीत-काव्य	लखनऊ
९६	रीतिकालीन हिन्दी और उर्दू काव्य का समाजशास्त्रीय विवेचन	सागर
९७	१८ वीं शताब्दी का हिन्दी-साहित्य	रांची
९८	पद्माकरोत्तर हिन्दी-रीतिकाव्य	काशी
९९.	रीतिकालीन शृंगार-भावना के स्रोत	कुरुक्षेत्र
	प्रभाव	
१	हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव (१४००-१९ ई)	•
१ १	भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पौराणिक प्रभाव (संस्कृत)	•
१ २	शाक्त दर्शन और मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य	आगरा
१ ३	संत-सम्प्रदाय-काव्य पर तान्त्रिकवाद (१४ ०-१७०)	•
१ ४	हिन्दी-संतों (विशेषतया सूरदास तुलसीदास और कबीर दास) पर वेदान्त-पद्धतियों का महत्त्व (वर्णन)	•
१ ५	मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर शैव और शाक्त प्रभाव	पटना
१ ६	हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर शैवधर्म का प्रभाव	आगरा
१ ७	नाथ-सम्प्रदाय का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव	•
१ ८	नाथ-सम्प्रदाय और गोरखनाथ का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव	गोरखपुर
१ ९.	वैष्णव-सम्प्रदाय का हिन्दी के कृष्ण-भक्ति साहित्य पर प्रभाव (१७०)	अलीगढ़
११	रामानन्द-सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव	•
१११	रीतिकालीन हिन्दी-कविता की सामाजिक प्रतिक्रिया	प्रयाग
११२.	मध्ययुगीन हिन्दी-कविता पर योगमत का प्रभाव	•
१११	हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव	•

क्र.सं.	विषय	विश्वविद्यालय
११४	बौद्ध धर्म का मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	आगरा
११५.	१६वीं शताब्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य पर आलवार भक्तों का प्रभाव	अलीगढ़
११६	अपभ्रंश-काव्य-शैली की परम्पराओं का मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर प्रभाव	आगरा
११७	प्राचीन हिन्दी-साहित्य पर जैन-साहित्य का प्रभाव	*
११८	रीतिकालीन हिन्दी-मुक्तक-काव्य पर संस्कृत-मुक्तक काव्य का प्रभाव	पंजाब
११९.	रीतिकालीन हिन्दी-काव्य पर संस्कृत-काव्य-शास्त्र का प्रभाव	लखनऊ
१२	रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य पर [illegible] ग्रन्थों का प्रभाव	पंजाब
१२१	रीतिकाव्य पर विद्यापति का प्रभाव	*
१२२	हिन्दी-रीतिकाव्य पर हिन्दी-भक्ति-काव्य का प्रभाव	प्रयाग
१२३	रीतिकाव्य पर अष्टछाप का प्रभाव	आगरा
१२४	मध्यकालीन हिन्दी-कविता पर नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव	*
१२५	रीतिकालीन कविता और मराठी सन्त-कवियों का काव्य-शिल्प	काशी

6 || आधुनिक साहित्य (सामान्य)

१	रीतिकाल और आधुनिक काल के संधि-सूत्र	आगरा
२	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ	राजस्थान
३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८७०-१९५) की विचार-धारा	•
४	आधुनिक हिन्दी के विविध वादों का अनुशीलन	सागर
५.	आधुनिक साहित्य में सामाजिक हास्य और व्यंग	सागर
६	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय भावना का स्वरूप-विकास	राजस्थान
७	स्वतंत्रता-आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी-साहित्य	लखनऊ
८	सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम का हिन्दी-साहित्य	आगरा
९.	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गांधीवाद	•
१	हिन्दी-साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों का समीक्षात्मक अध्ययन	जोधपुर
११	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ और प्रगतिवादी धारा का अनुशीलन	नागपुर
१२	यथार्थवाद—चिंतन और कला (आधुनिक साहित्य की भूमिका पर)	सागर
१३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य को आर्य-समाज की देन	•
१४	हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य का अनुशीलन	सागर
१५.	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ	•
१६	हिन्दी-साहित्य और भाषा के विकास में रजतपट, रंगमंच और आकाशवाणी का योगदान	दिल्ली
१७	भारतेन्दुयुग	नागपुर
१८.	भारतेन्दुयुगीन साहित्य में व्यंग्यात्मकता	आगरा
१९	भारतेन्दुयुग के सप्त महारथी	काशी
२	भारतेन्दु-उत्तर हिन्दी-साहित्य में हास्य	राजस्थान

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
२१	हिन्दी-साहित्य (१९११-१९१८ तक) का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
२२	हिन्दी एवं उर्दू साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (१९००-१९२५)	आगरा
२३	हिन्दी का युद्धोत्तर साहित्य	राजस्थान
२४	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ	*
२५	स्वतंत्र भारत का हिन्दी-साहित्य	आगरा
२६	छायावादोत्तर हिन्दी में बौद्धिकतावादी प्रवृत्तियाँ (१९३६-१९५६)	[illegible]
२७	आधुनिक हिन्दी-साहित्य को अहिन्दी लेखकों का योगदान (सन् १९०० ई० से वर्तमान समय तक)	विक्रम
२८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर बौद्ध प्रभाव	दिल्ली
२९	२०वीं शताब्दी की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ और उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (१९००-१९३६)	*
३०	हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य (१८५७-१९५७)	पंजाब
३१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव	आगरा
३२	हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास में भारतीय नेताओं का योगदान तथा प्रभाव (१८५७-१९५७)	*
३३	हिन्दी-साहित्य पर राजनीतिक आन्दोलन का प्रभाव (१९०५-१९४७)	*
३४	औद्योगिक विकास और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	बम्बई
३५	हिन्दी-भाषा और साहित्य पर महात्मा गाँधी का प्रभाव	पटना
३६	गाँधीवाद और उससे प्रभावित हिन्दी-साहित्य	सागर
३७	गाँधीवाद का आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
३८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर गाँधीवादी-विचार धारा का प्रभाव	सागर
३९	धार्मिक सम्प्रदायों तथा विदेशी धर्म-प्रचारकों का आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास में योग-दान	कलकत्ता

क्र सं०	विषय	विश्वविद्यालय
४०	बँगला का हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रभाव	नागपुर
४१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर बँगला-साहित्य का प्रभाव	•
४२	आधुनिक मनोविज्ञान और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	सागर
४३	पाश्चात्य विचारों और विचारधाराओं का आधुनिक हिन्दी साहित्य और उसके साहित्य-सिद्धान्तों पर प्रभाव	काशी
४४	अंग्रेजी का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव	•
४५	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव	राजस्थान
४६	आधुनिक हिन्दी-काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी प्रभाव (अंग्रेजी)	•
४७	हिन्दी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव	•
४८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का अवतरण	राजस्थान
४९	भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और उसका आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	•
५०	राजद्वय—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह—आधुनिक हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास में उनका योगदान और आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के निर्माण पर उनका प्रभाव	राजस्थान
५१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक वादों का प्रभाव	सागर
५२	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य विचार धाराओं के प्रभाव व प्रतिक्रियाओं का अध्ययन	•

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
५१	खड़ीबोली का ऐतिहासिक काव्य	दिल्ली
५२	खड़ीबोली के खण्ड-काव्य	लखनऊ
५३	आधुनिक हिन्दी-कविता (१९ १९५५) की दार्शनिक पृष्ठभूमि	आगरा
५४	आधुनिक हिन्दी-काव्य में मानवतावाद	विक्रम
५५.	वर्तमान हिन्दी-काव्य में मानवतावाद	आगरा
५६	आधुनिक हिन्दी-कविता में मानवतावादी भावना (लोक-मंगल-भावना) का विकास	राजस्थान
५७	आधुनिक हिन्दी-कविता में चित्रित नवीन मानवीय मूल्यों का आलोचनात्मक अध्ययन	काशी
५८	आधुनिक काव्य में व्यक्तिवादी दर्शनों का प्रभाव	प्रयाग
५९.	आधुनिक हिन्दी-कवियों का व्यक्तिवादी दर्शन	कलकत्ता
६	आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रकृतिमूलक दार्शनिकता का अनुशीलन	सागर
६१	आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद	●
६२	आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद	●
६३	आधुनिक हिन्दी-कविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	बम्बई
६४	आधुनिक हिन्दी-कविता में नैतिक-चेतना का स्वरूप एवं विकास	पंजाब
६५.	आधुनिक हिन्दी-कविता में भक्ति	पंजाब
६६	आधुनिक हिन्दी-कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि	प्रयाग
६७	स्वतन्त्रता-आन्दोलन में आधुनिक हिन्दी-कवियों का योगदान	जोधपुर
६८	आधुनिक हिन्दी-काव्य में भक्ति-तत्त्व	दिल्ली
६९	आधुनिक काव्य में भक्ति-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
७	हिन्दी-साहित्य के आधुनिक खण्ड-काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
७१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में खण्ड-काव्य	लखनऊ
७२	२ वीं शती में राम-काव्य	लखनऊ
७३	भारतेन्दु और भारतेन्दु-कालीन काव्य	सागर
७४	भारतेन्दु युगीन हिन्दी-कवि	●

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
९५.	उत्तर-छायावादी काव्य का अनुशीलन	सागर
९६	छायावादोत्तर हिन्दी-कविता (१९५५ तक)	[illegible]
९७	छायावादी युग के पश्चात् हिन्दी-काव्य की विभिन्न विकास-दिशाएं (१९३६-१९५८ तक)	•
९८	छायावादोत्तर हिन्दी-कविता का स्वरूप	लखनऊ
९९.	छायावादोत्तर हिन्दी-कविता का विकास (१९३७-१९६ तक)	काशी
१	छायावादोत्तर हिन्दी-गीति-काव्य	आगरा
१ १	छायावादोत्तर हिन्दी-काव्य की भाषा-शैली का शास्त्र-शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
१ २	उत्तरछायावादी काव्य में प्रतीक और बिम्ब-विधान तथा उनका मनोविज्ञानशास्त्रीय समाजशास्त्रीय और सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन	पंजाब
१ ३	हिन्दी की प्रयोगवादी कविता और उसके प्रेरणा-स्रोत	मगध
१ ४	नयी हिन्दी-कविता में बिम्ब-विधान	दिल्ली
१ ५.	युद्धोत्तर हिन्दी-काव्य की पृष्ठभूमि	राजस्थान
१ ६	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-कविता	•
१ ७	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता म लोकोन्मुखी चेतना	सागर
१ ८	हिन्दी-गीति-काव्य का विकास (१८५०-१९५)	प्रयाग
१ ९	सामाजिकता और आधुनिक हिन्दी-काव्य	राजस्थान
११	महाभारत का आधुनिक हिन्दी-प्रबन्ध-काव्य पर प्रभाव	दिल्ली
१११	महाभारत का आधुनिक हिन्दी (खड़ीबोली) के पौराणिक महाकाव्यों की कथावस्तु पर प्रभाव	आगरा
११२	खड़ीबोली के प्रबन्ध काव्यों पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव	दिल्ली
११३	रीति-कविता का आधुनिक हिन्दी-कविता पर प्रभाव	•
११४	आधुनिक हिन्दी-कविता पर स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव	पंजाब
११५	आधुनिक काव्य पर रीति-काल का प्रभाव	जोधपुर
११६	आधुनिक भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन का हिन्दी-कविता पर प्रभाव	दिल्ली

९ || हिन्दी-गद्य की विधाएँ

(क) नाटक

१	भारतीय नाट्य-परम्परा तथा हिन्दी-नाटक	आगरा
२	भारतीय नाटक का उद्भव और विकास	•
३	हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास	•
४	हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास	•
५	हिन्दी-नाटक का उद्भव और विकास	•
६	हिन्दी-नाटक के स्रोत—भारतेन्दु से १९१९ तक	प्रयाग
७	भारतेन्दु-कालीन नाटक-साहित्य	•
८	भारतेन्दु-युग के नाटककार	•
९	भारतेन्दुकालीन नाटक और रंगमंच	•
१	भारतेन्दु-युग के नाटकों का शास्त्रीय विवेचन	प्रयाग
११	द्विवेदी-युगीन नाटक-साहित्य	लखनऊ
१२	हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परम्परा और प्रयोग—प्रसाद युग से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक	आगरा
१३	प्रसाद के पश्चात् हिन्दी-नाटकों का विकास	•
१४	हिन्दी-नाटक का विकास (१९४२ से १९५८ तक)	राजस्थान
१५	हिन्दी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन	•
१६	हिन्दी के पौराणिक नाटकों के मूलस्रोत	आगरा
१७	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक	आगरा
१८	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक	विक्रम
१९	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन	•
२	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की शिल्प-विधि	प्रयाग
२१	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में शील-चित्रण का अध्ययन	पटना
२२	हिन्दी और बँगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
२३	हिन्दी और बंगला नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
२४	हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक—उनकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ और प्रेरक शक्तियाँ	*
२५	हिन्दी के यथार्थवादी तथा समस्यामूलक नाटकों का अध्ययन	सागर
२६	हिन्दी-नाटकों (१९४७ तक) का शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
२७	आधुनिक हिन्दी -साहित्य मे स्वच्छन्दतावादी नाटकों का विकास	*
२८	हिन्दी-साहित्य मे समस्या-नाटक	दिल्ली
२९	हिन्दी-नाट्य-साहित्य में नायक की परिकल्पना	प्रयाग
३०	हिन्दी-नाटक मे नायक का स्वरूप	पंजाब
३१	हिन्दी-नाटक मे स्वच्छन्दतावाद	लखनऊ
३२	नाटकों में यथार्थवाद	*
३३	आधुनिक हिन्दी-नाटकों में नायक एवं नायिका की परिकल्पना	आगरा
३४	प्रसाद के विशिष्ट संदर्भ में हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का विशेष अध्ययन	कलकत्ता
३५	प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटकों मे रस-विधान	दिल्ली
३६	प्रसादोत्तर हिन्दी-नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	आगरा
३७	हिन्दी-नाटक का विकास सन् १९४२ से आज तक	*
३८	हिन्दी-नाटकों मे नाटक-तत्त्व	दिल्ली
३९	हिन्दी-नाटकों मे हास्य-तत्त्व	प्रयाग
४०	हिन्दी-नाटकों में हास्य-योजना	विक्रम
४१	जयशंकरप्रसाद के ऐतिहासिक नाटक	*
४२	हिन्दी-साहित्य मे एकांकी-नाटकों के उदय विकास तथा प्रगति का ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन	*
४३	हिन्दी मे एकांकी नाटक	*
४४	हिन्दी-रंगमंच का विकास और एकांकी	लखनऊ
४५	हिन्दी-एकांकी की शिल्प-विधि	आगरा
४६	हिन्दी-भाव-प्रतीक गीत-नाट्य तथा रेडियो-नाटक और उनके लेखक	आगरा
४७	हिन्दी-साहित्य में गीत-नाट्य का उद्भव और विकास	सागर
४८	हिन्दी के गीत-नाट्य	दिल्ली

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
४९	प्रारंभिक मैथिली-गीति-नाट्य	कलकत्ता
५०	मैथिली-नाटकों का उद्भव और विकास	बड़ौदा
५१	पारसी रंगमंच—उसके नाटक और नाटककारों का आलोचनात्मक अध्ययन	विक्रम
५२	हिन्दी-रंगमंच	नागपुर
५३	हिन्दी में रंगमंच का विकास	आगरा
५४	हिन्दी-रंगमंच का विकास	दिल्ली
५५	हिन्दी-नाटक और रंगमंच का विकास	पटना
५६	हिन्दी-रंगमंच और रंगमंचीय नाटक	गोरखपुर
५७	हिन्दी-नाट्य-साहित्य में कविता तथा गीत का प्रयोग	आगरा
५८	हिन्दी-नाटकों में संगीत-तत्त्व	गोरखपुर
५९	आधुनिक हिन्दी नाटककारों के नाट्य-सिद्धान्त	दिल्ली
६०	हिन्दी-नाटक के शिल्प का विकास	प्रयाग
६१	हिन्दी-नाट्य-कला का विकास—एक शिल्पगत अध्ययन	*
६२	हिन्दी-नाटकों की शिल्प-विधि का विकास (भारतेन्दु-युग से १९५२ तक)	*
६३	हिन्दी-नाटकों का आरम्भ	आगरा
६४	हिन्दी-नाटक कला	*
६५	हिन्दी में रेडियो-रूपकों का शैलीगत अध्ययन	*
६६	हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	*
६७	हिन्दी-नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव	लखनऊ
६८	मराठी नाटकों का हिन्दी-नाटकों पर प्रभाव (मराठी विभाग)	*
६९	हिन्दी-नाटक पर अंग्रेजी और मराठी-नाटक का प्रभाव	*

(ख) कथा-साहित्य

(1) सामान्य

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-कथा और उसके पाठकों की रुचि का विकास	पटना
२	हिन्दी-कथा-साहित्य में राष्ट्रीय भावना	उस्मानिया
३	हिन्दी-कथा-साहित्य में चित्रित यौन-समस्या का अध्ययन	आगरा
४	हिन्दी-कथा-साहित्य और प्रकृति	विक्रम
५	वर्तमान कथा के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन	राजस्थान

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
६	हिन्दी-कथा-साहित्य में चरित्र-कोटियाँ	प्रयाग
७	हिन्दी-कथा-साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्व—भारतेन्दु युग से प्रेमचन्द तक	पटना
८	आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और चरित्र-विकास	भागलपुर
९.	आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान	•
१०	प्रेमचन्द-युगीन कथा-साहित्य (१९११ १९३६) में वातावरण चित्रण	आगरा
११	प्रेमचन्द के समवर्ती कथा-साहित्य में लोक-संस्कृति	लखनऊ
१२	प्रथम विश्व-युद्ध के बाद हिन्दी-कथा-साहित्य में मध्य वर्ग	लखनऊ
१३	छायावादी युग का कथा-साहित्य	विक्रम
१४	जासूसी साहित्य	लखनऊ
१५.	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-कथा-साहित्य के सांस्कृतिक स्रोत	प्रयाग
१६	प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी में समाजवादी धारा का कथा-साहित्य	विक्रम
१७	आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और नवीन जागृति (१९१६ १९५२)	राजस्थान
१८	हिन्दी-साहित्य में आख्यायिका कहानी और उपन्यास की परम्परा तथा अवान्तर प्रकार के कथा-साहित्य का अनुशीलन	सागर
१९	हिन्दी-कथा-साहित्य के विकास पर पाश्चात्य प्रभाव (१८८२ १९३६ ई) (पम भी विभाग)	•
२०	हिन्दी-कथा-साहित्य को बंगला की देन	काशी

(ii) उपन्यास

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-उपन्यास पृष्ठभूमि और परम्परा (१८८१ १९१०)	भागलपुर
२	हिन्दी-उपन्यास—उद्भव और विकास	पटना
३	हिन्दी उपन्यास का विकास	•
४	हिन्दी उपन्यास का विकास और विविध प्रवृत्तियाँ—एक आलोचनात्मक अध्ययन	लखनऊ
५	हिन्दी उपन्यास का विकास और नैतिकता	•
६	हिन्दी उपन्यास का लोकतान्त्रिक अध्ययन	आगरा
७	१९ वीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यास	प्रयाग

क्र०सं०	विषय	विश्वविद्यालय
८	प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास	*
९	१९वीं शती के उपन्यासों में प्रतिबिम्बित समाज	रांची
१०	द्विवेदी-युग के उपन्यासों का अध्ययन	*
११	प्रेमचन्द-युगीन उपन्यासों का शिल्प-विधान	सागर
१२	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों के वैचारिक और दार्शनिक पक्षों का अनुशीलन	राजस्थान
१३	प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियाँ तथा प्रभाव	*
१४	प्रेमचन्द और उनके परवर्ती उपन्यासकारों की प्रमुख रचनाओं में प्रदर्शित उपन्यास-शैली	आगरा
१५	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास	सागर
१६	प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य की मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण (१९३७-१९५७)	आगरा
१७	प्रेमचन्द-परवर्ती हिन्दी-उपन्यास के प्रेरणा स्रोत	दिल्ली
१८	प्रेमचन्दोत्तर समाजवादी धारा के उपन्यास	सागर
१९	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियाँ	आगरा
२०	प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास-साहित्य में सामाजिक समस्याएँ	लखनऊ
२१	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों में [illegible] परिस्थितियों का चित्रण	आगरा
२२	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यासों का वस्तु रूपात्मक विकास	रांची
२३	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों में मध्यकालीन जीवन	गोरखपुर
२४	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	लखनऊ
२५	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज	पंजाब
२६	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी-उपन्यासों में नायक का विकास	नागपुर
२७	हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में लोक-तत्त्व	आगरा
२८	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास	लखनऊ
२९	हिन्दी-उपन्यासों में लोक-तत्त्व	*
३०	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों के वस्तु एवं रूपाकारों का अध्ययन	सागर
३१	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य—परिस्थितियाँ एवं प्रवृत्तियाँ का एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन	आगरा

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
३२	ऐतिहासिक उपन्यासों की इस संदर्भ में विशेष कर हिन्दी में लिखे गये इसी जाति के उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन	आगरा
३३	हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	●
३४	हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास	विक्रम
३५.	हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग	प्रयाग
३६	हिन्दी-उपन्यास के वस्तु-तत्त्व का विकास	काशी
३७	हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास	काशी
३८	हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास	सागर
३९.	हिन्दी-साहित्य में साहसिक उपन्यास	सागर
४०	हिन्दी के कौतूहल-प्रधान (ऐय्यारी तिलस्मी और जासूसी) उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन	आगरा
४१	हिन्दी के जासूसी और तिलस्मी उपन्यास—मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक अध्ययन	राजस्थान
४२	हिन्दी-उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	लखनऊ
४३	हिन्दी-उपन्यास और राजनैतिक आन्दोलन	लखनऊ
४४	हिन्दी-उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना	लखनऊ
४५	हिन्दी-उपन्यास में राष्ट्रीय भावना	दिल्ली
४६	हिन्दी-उपन्यासों में राष्ट्रीय भावना का क्रमिक विकास (सन् १९४७ तक की कृतियों के आधार पर)	आगरा
४७	हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी उपन्यास	●
४८	हिन्दी के भावुकता-प्रधान उपन्यास	पटना
४९.	हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में शृंगार-चित्रण	सागर
५०	हिन्दी-उपन्यासों में यथार्थवाद का आरम्भ और विकास—एक अनुशीलन	सागर
५१	(प्रेमचन्द के विशेष संदर्भ में) आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का विकास	प्रयाग
५२	हिन्दी-उपन्यासों में यथार्थवाद—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से १९५१ तक	प्रयाग
५३	हिन्दी-उपन्यासों में यथार्थवाद	लखनऊ
५४	२० वीं शताब्दी के हिन्दी-उपन्यासों का सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययन	●

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
५५.	हिन्दी-उपन्यास की सामाजिक पृष्ठभूमि	लखनऊ
५६	हिन्दी-उपन्यास—सामाजिक आधार-भूमि (१९१९ से ४७ तक)	अलीगढ़
५७	२ वीं शताब्दी में हिन्दी और बँगला उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	कलकत्ता
५	हिन्दी-उपन्यासों का समाज-शास्त्रीय अनुशीलन	विक्रम
५९.	हिन्दी-उपन्यासों में सामाजिक विषय-वस्तु	प्रयाग
६	हिन्दी में सामाजिक-उपन्यास	लखनऊ
६१	हिन्दी-उपन्यासों में ग्राम-समस्या	उस्मानिया
६२	हिन्दी-उपन्यास और मानवतावाद	राजस्थान
६३	हिन्दी-उपन्यासों की नवीन दिशाएँ	विक्रम
६४	हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन	•
६५	हिन्दी-उपन्यासों के रचना-विधान का विकास और स्वरूप	काशी
६६	हिन्दी-उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास	प्रयाग
६७	हिन्दी-उपन्यास में शिल्प-विधान का विकास (१९१७-१९५८)	पंजाब
६८	हिन्दी-उपन्यासों की शिल्प-विधि का विकास	•
६९	हिन्दी-उपन्यास की शिल्प-विधि का विकास	दिल्ली
७	हिन्दी उपन्यासों में कथा-शिल्प का विकास	•
७१	हिन्दी-उपन्यास में कथानक	आगरा
७२	हिन्दी-उपन्यासों की वस्तु योजना का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
७३	हिन्दी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का विकास	•
७४	हिन्दी-उपन्यासों के चरित्रों के प्रकार और उनका विकास	•
७५.	आधुनिक हिन्दी-उपन्यास की कुछ प्रमुख नायिकाओं का समाज शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन	सागर
७६	हिन्दी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना	•
७७	हिन्दी-उपन्यास के नायकों का समाज-शास्त्रीय अध्ययन	सागर
७८	हिन्दी के लघु उपन्यास	प्रयाग
७९	हिन्दी-उपन्यास में वातावरण-तत्त्व का योग	कुरुक्षेत्र
	आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना	प्रयाग
१	मार्क्सवाद का उदय और हिन्दी-उपन्यासों पर उसका प्रभाव	काशी

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
८२	परवर्ती हिन्दी-उपन्यास-साहित्य पर प्रेमचंद का प्रभाव	प्रयाग
८३	आधुनिक हिन्दी-उपन्यास पर संस्कृत का प्रभाव	सागर
८४	हिन्दी-उपन्यासकारों के सिद्धान्त और विनियोग पर शरत्चन्द्र का प्रभाव	पटना
८५	हिन्दी-उपन्यासों पर पाश्चात्य प्रभाव	पटना
८६	हिन्दी-उपन्यासों पर अंग्रेजी का प्रभाव	पटना
८७	बंगला-उपन्यासों का २० वीं शती के हिन्दी-उपन्यासों पर प्रभाव	काशी
८८	ऐतिहासिक उपन्यासों तथा नाटकों में इतिहास का उपयोग	प्रयाग

(iii) कहानी

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन	•
२	हिन्दी में लघुकथा का विकास	नागपुर
३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आख्यायिका के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन	•
४	हिन्दी का आधुनिक गल्प-साहित्य और प्रसार	राजस्थान
५	प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-कहानी-साहित्य का विकास	लखनऊ
६	प्रेमचन्दोत्तर कहानी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ	लखनऊ
७	हिन्दी-कहानियों की शिल्प-विधि का विकास और उद्गम-सूत्र	•
८	प्रेमचन्दोत्तर कहानी-साहित्य (१९३७-१९६२)	राजस्थान
९	नवीन हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर

(ग) निबन्ध और आलोचना

(i) निबन्ध

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन	•
२	हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास	•
३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास	राजस्थान
४	हिन्दी का निबंध-साहित्य	पटना
५.	व्यक्तिवादी निबन्ध (Personal Essay) के विकास का ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन	पटना

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
६	हिन्दी-निबन्ध तथा तजातीय गद्य-रूपों का अध्ययन	सागर
७	अंग्रेजी-निबन्धों का हिन्दी-निबन्धों पर प्रभाव	आगरा
(ii) आलोचना		
१	हिन्दी-साहित्य में आलोचना का उद्भव और विकास	•
२	हिन्दी-आलोचना का विकास	आगरा
३	हिन्दी-समालोचना का विकास	नागपुर
४	हिन्दी-साहित्य-समीक्षा का विकास (१६ से १६५)	सागर
५.	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास (१८६८ १६४१)	•
६	ब्रजभाषा-साहित्य में प्राप्त व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप	विक्रम
७	आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास	•
८	आधुनिक हिन्दी आलोचना	•
९.	आधुनिक आलोचना की प्रवृत्तियाँ	•
१	हिन्दी-समालोचना के रूप-गठन के विविध स्रोत और उनकी *साहित्य निधि का समीक्षात्मक अध्ययन*	जोधपुर
११	हिन्दी-आलोचना-साहित्य की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ और उनके *सगठन-सूत्रों का विवेचनात्मक अध्ययन (१६३६-६२)*	जोधपुर
१२	आधुनिक हिन्दी समीक्षा-पद्धतियों का विकासात्मक विवेचन	सागर
१३	१६ से १६५ तक हिन्दी में समीक्षा का विकास	लखनऊ
१४	हिन्दी-साहित्य में आलोचना और आलोचनात्मक चेतना के मूल तत्वों का मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन	आगरा
१५	हिन्दी में मनोवैज्ञानिक आलोचना का उद्भव और विकास	गोरखपुर
१६	आधुनिक हिन्दी-आलोचना में परम्परा स्वच्छन्दता और वाद	सागर
१७	हिन्दी-साहित्य में सामाजिक आलोचना के तत्त्व (भारतेन्दु-युग से प्रगतिवाद तक)	पटना
१	हिन्दी-साहित्य में स्वच्छन्दतावादी समीक्षा और साहित्य चिन्तन	सागर

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१९	शुक्लोत्तर हिन्दी-आलोचना	आगरा
२०	हिन्दी-आलोचना के विकास का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
२१	हिन्दी-आलोचना को छायावादी कविता की देन	लखनऊ
२२	आधुनिक हिन्दी-आलोचना पर मार्क्सवाद का प्रभाव	आगरा
२३	आधुनिक हिन्दी-समीक्षा पर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र तथा अंग्रेजी समीक्षा के प्रभाव का अनुशीलन	विक्रम
२४	संस्कृत और अंग्रेजी आलोचना के सिद्धान्तों का हिन्दी-आलोचना-पद्धति पर प्रभाव	प्रयाग
२५	हिन्दी-आलोचना का समालोचनात्मक अध्ययन	गोरखपुर

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१९	सूर का शृंगार-वर्णन	गोरखपुर
२०	केशव और उनका साहित्य	•
२१	श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के काव्य का अनुशीलन	सागर
२२.	ग़रीबदास—उनकी हिन्दी-रचनाएं और ग्रन्थ—एक अध्ययन	लखनऊ
२३	कविवर गिरधारी और उनका काव्य (जन्म सं. १९४४)—एक समीक्षात्मक अध्ययन	आगरा
२४	ठाकुर गोपालशरणसिंह—काव्य-कला और कृतित्व	आगरा
२५	गुरु गोविन्दसिंह—जीवनी और साहित्य	•
२६	गुरु गोविन्दसिंह और उनका काव्य	आगरा
२७	श्री गोविन्दगिल्लाभाई रत्न—उनकी कृतियों का साहित्यिक एवं शास्त्रीय अध्ययन	आगरा
२८	सेठ गोविन्ददास—कला और कृतित्व	सागर
२९.	आचार्य चतुरसेन शास्त्री का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	आगरा
३०	हिन्दी-उपन्यासों का विकास और कथाकार चतुरसेन शास्त्री	नागपुर
३१	उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री	विक्रम
३२	उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन	दिल्ली
३३	आचार्य चतुरसेन के ऐतिहासिकेतर उपन्यासों का अध्ययन	आगरा
३४	उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री (सामाजिक विचार और शिल्प	•
३५.	आचार्य चतुरसेन शास्त्री के कथा साहित्य का विवेचनात्मक और कलात्मक अध्ययन	विक्रम
३६	चतुरसेन के कथा-साहित्य का मूल्यांकन	पंजाब
३७	आचार्य चतुरसेन शास्त्री का उपन्यासेतर साहित्य	विक्रम
३८	चंदबरदाई और उनका काव्य	•
३९.	जगन्नाथराय चौबे और उनके मंडल के कवि	•
४०	चरणदास का जीवन और ग्रन्थ	प्रयाग
४१	चिन्तामणि—व्यक्तित्व एवं कृतित्व	दिल्ली
४२.	जगन्नाथदास रत्नाकर—उनकी प्रतिभा और कला	•
४३	हरिश्चन्द्र-मंडल के कवि जगमोहनसिंह की जीवनी और उनका साहित्य	जबलपुर

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
१२५	आचार्य भिखारीदास	•
१२६	मलूक सम्प्रदाय के प्रवर्तक संतकवि मलूकदास	आगरा
१२७	भूषण—जीवनी और कृतियाँ	आगरा
१२८	भूषण और उनका साहित्य	वेंकटेश्वर
१२९	रीति कवि मण्डन और उनका काव्य	•
१३०	मतिराम—कवि और आचार्य	•
१३१	मतिराम—जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१३२	हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य—जायसी का विशेष अध्ययन	•
१३३	जायसी और उनका काव्य	•
१३४	जायसी—उनकी कला और दर्शन	•
१३५	जायसी का काव्य-शिल्प	दिल्ली
१३६	जायसी का बिम्ब-विधान	आगरा
१३७	जायसी की प्रेम-भावना	विक्रम
१३८	संतकवि मलूकदास	•
१३९	महादेवी वर्मा—जीवन और कृतित्व का अध्ययन	आगरा
१४०	मीराँबाई	•
१४१	महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-सम्बन्धी विचार का क्रम विकास	राजस्थान
१४२	मोहन [illegible] और उनका काव्य	लखनऊ
१४३	महात्मा युगलानन्यशरण और उनका काव्य	आगरा
१४४	रीवा-नरेश महाराज रघुराजसिंहजी और उनका रामभक्ति-काव्य	आगरा
१४५	रसखान तथा भक्ति-भावना	अलीगढ़
१४६	राधाचरण गोस्वामी और उनका साहित्य	लखनऊ
१४७	श्री गोस्वामी राधाचरणजी—व्यक्तित्व तथा कृतित्व	आगरा
१४८	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन	•
१४९	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और उनकी कृतियाँ	लखनऊ
१५०	(रामधारीसिंह) दिनकर—काव्य और कृतित्व	आगरा
१५१	मलिक मुहम्मद जायसी के ग्रन्थों का साहित्यिक अध्ययन	अलीगढ़
१५२	रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्व और काव्य	दिल्ली
१५३	आचार्य [illegible]—जीवनी और साहित्य	लखनऊ

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
५.	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक और पौराणिक-पात्रों का अनुशीलन	सागर
६	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक	"
७	गोस्वामी-तुलसीदास—रत्नावली की जीवनी और रचना एवं सूकरखेत के तादात्म्य तथा इतिवृत्त के विशिष्ट परिवेश में समन्वित गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान आविर्भाव-काल, परिवार, व्यक्तित्व आदि का आलोचनात्मक अध्ययन	"
८	पुस्तकों का क्रम-विकास	"

(ग) साहित्य-सिद्धान्तों का प्रयोग

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	महाकवि (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' के काव्य में रस और रीति का प्रयोग	राजस्थान
२	कबीर के साहित्य में प्रतीक योजना	आगरा
३	प्रसाद-साहित्य में रस-व्यंजना	आगरा
४	प्रबन्ध-काव्य में रस	राजस्थान
५.	जयशंकर प्रसाद के काव्य-सिद्धान्त	कलकत्ता
६	जयशंकर प्रसाद के काव्य में ध्वनि का विवेचन	आगरा
७	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	"
८	भारतीय काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि में तुलसी-साहित्य का अध्ययन	आगरा
९.	संस्कृत-साहित्य-शास्त्र और तुलसीदास	राजस्थान
१	तुलसीजी के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	सागर
११	तुलसीदास के काव्य में अलंकार-योजना	"
१२	तुलसी-द्वारा प्रयुक्त छन्दों का गवेषणात्मक अध्ययन	पटना
१३	निराला का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	पटना
१४	मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम	"
२	रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त	"
१६	विद्यापति के पदों का शास्त्रीय विवेचन	भागलपुर
१७	सूरदास का शृंगार—स्वरूप और आदर्श	सागर

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१५७	श्रीललितकिशोरीजी (पीठीय सम्प्रदाय) व्यक्तित्व एवं कृतित्व	आगरा
१५८	लालदास—जीवन और साहित्य	राजस्थान
१५९.	हिन्दी के अज्ञात कवि श्रीवाशिवलाल भट्ट	पटना
१६	वृन्द और उनका साहित्य	राजस्थान
१६१	वृन्द और उनका साहित्य	वेंकटेश्वर
१६२	चाचा हित वृन्दावनदास और उनका साहित्य	*
१६३	हित वृन्दावनदास—जीवन और कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१६४	बाबू श्यामसुन्दरदास—व्यक्तित्व और कृतित्व	*
१६५	बाबू श्यामसुन्दरदास और उनके सहयोगी	लखनऊ
१६६	हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन	*
१६७	सन्त कवि सिंगाजी—जीवन और कृतियाँ	*
१६८	सियारामशरण गुप्त के साहित्य का अध्ययन	आगरा
१६९.	सियारामशरण गुप्त	दिल्ली
१७	सुखदेव मिश्र—जीवनी और कृतियाँ	लखनऊ
१७१	कविराज सुखदेव मिश्र और उनका साहित्य	अलीगढ़
१७२	सन्त सुन्दरदास	*
१७३	सुन्दरदास का जीवन और उनके ग्रन्थ	प्रयाग
१७४	श्री सुमित्रानन्दन पंत की काव्य-कला और जीवनदर्शन (१९१८ से १९५८ तक) का अध्ययन	आगरा
१७५	महाकवि सूर्यमल्ल (१८१५ से १८६३) की जीवनी और रचनाओं का अध्ययन	आगरा
१७६	सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन	*
१७७	सूरकाव्य में अप्रस्तुत-योजना	प्रयाग
१७८	सूर और उनका साहित्य	*
१७९	भारतीय साधना और सूर-साहित्य	*
१८	सूरदास की जीवनी और काव्य-कला	अलीगढ़
१८१	सूर की काव्य-कला	*
१८२	सूरदास का शृंगार-वर्णन	भागलपुर

क्रम सं०	विषय	विश्वविद्यालय
५.	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक और पौराणिक-पात्रों का अनुशीलन	सागर
६	जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक	•
७	गोस्वामी-तुलसीदास—रत्नावली की जीवनी और रचना एवं सूकरखेत के तादात्म्य तथा इतिवृत्त के विशिष्ट परिचय से समन्वित गोस्वामी तुलसीदास के जन्मस्थान आविर्भाव-काल परिवार, व्यक्तित्व आदि का आलोचनात्मक अध्ययन	•
८	तुलसी का काव्य-विकास	•

(ग) साहित्य-सिद्धान्तों का प्रयोग

क्रम सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१	महाकवि (अयोध्यासिंह उपाध्याय) 'हरिऔध' के काव्य में रस और रीति का प्रयोग	राजस्थान
२	कबीर के साहित्य में प्रतीक योजना	आगरा
३	प्रसाद-साहित्य में रस-व्यंजना	आगरा
४	प्रसाद-काव्य में रस	राजस्थान
५.	जयशंकर प्रसाद के काव्य-सिद्धान्त	कलकत्ता
६	जयशंकर प्रसाद के काव्य में ध्वनि का विवेचन	आगरा
७	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	•
८	भारतीय काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि में तुलसी-साहित्य का अध्ययन	आगरा
९.	संस्कृत-साहित्य-शास्त्र और तुलसीदास	राजस्थान
१	तुलसीजी के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	सागर
११	तुलसीदास के काव्य में अलंकार-योजना	•
१२	तुलसी-द्वारा प्रयुक्त छंदों का आलोचनात्मक अध्ययन	पटना
१३	निराला का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	पटना
१४	मध्यकालीन प्राकृत कविता और मतिराम	•
५	रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त	•
१६	विद्यापति के गीतों का शास्त्रीय विवेचन	भागलपुर
१७	सूरदास का शृंगार—स्वरूप और आदर्श	सागर

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१८	सूर-साहित्य में मधुरा भक्ति	अलीगढ़
१९	वात्सल्य रस के विकास में सूर का स्थान	पटना
२	विद्यापति के काव्य में शृंगार और रीति-सिद्धान्त और स्वरूप	पटना

(घ) पृष्ठभूमि, भूमिका, स्रोत और आधार

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१	द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में अयोध्यासिंह उपाध्याय के काव्य का विशेष अनुशीलन	सागर
२	कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत	पटना
३	संत कबीर की योग-साधना तथा उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	पंजाब
४	जयशंकरप्रसाद के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	लखनऊ
५	रीतिकाल की भूमिका में देव का अध्ययन	*
६	प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के स्रोत तथा उपकरण	प्रयाग
७	आधुनिक हिन्दी-राष्ट्रीय-काव्य के संदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का विशेष अध्ययन	सागर
८	मीरां के साहित्य के मूल स्रोतों का अनुसंधान	*
९	संत-साहित्य के संदर्भ में संत कवि रज्जब का परिशीलन	*
१	आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल की काव्यालोचना की पृष्ठभूमि	आगरा
११	हिन्दी के गांधीवादी काव्य की पृष्ठभूमि तथा सियारामशरण गुप्त—व्यक्तित्व तथा साहित्य	नागपुर
१२	सूर-द्वारा वर्णित कृष्ण-कथा का पौराणिक आधार	पटना
१३	'प्रसाद'-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	राजस्थान

(ङ) परम्परा या धारा

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१	गुजरात की हिन्दी काव्य-परम्परा तथा आचार्य कवि गोविन्द गिल्ला भाई	बड़ौदा
२	घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्य-धारा	*
३	हिन्दी भक्ति-काव्य-परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त का विशिष्ट अध्ययन	आगरा
४	अवधी-कृष्ण-काव्य की परम्परा में भक्त कवि लालदास और उनका काव्य	आगरा
५	अपभ्रंश काव्य-परम्परा और विद्यापति	*

(घ) समाज, संस्कृति और नीति

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	कबीर-साहित्य में चित्रित भारत	पटना
२	प्रसाद-साहित्य का समाज-शास्त्रीय अध्ययन	प्रयाग
३	प्रसाद-साहित्य में समाज और संस्कृति	लखनऊ
४	जयशंकर प्रसाद के नाटकों और उपन्यासों में मानवीय सम्बन्ध	पटना
५.	तुलसीदास के काव्य में वर्णित भौगोलिक सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों का अध्ययन	आगरा
६	तुलसी और भारतीय संस्कृति	*
७	भारतीय-संस्कृति और तुलसी	लखनऊ
८	तुलसीदास की दार्शनिक शब्दावली का सांस्कृतिक इतिहास	लखनऊ
९.	तुलसी का सामाजिक दर्शन	*
१	तुलसी का समाज-दर्शन	*
११	गोस्वामी तुलसीदास का आचार-दर्शन	आगरा
१२	तुलसी-साहित्य में नीति	पटना
१३	तुलसी का शील-निरूपण	बम्बई
१४	तुलसी-काव्य में समाज-चित्रण	दिल्ली
१५.	तुलसी-साहित्य में नारी	आगरा
१६	तुलसीदास के राम-राज्य का स्वरूप	पंजाब
१७	तुलसी-दर्शन ग्रन्थों में राजनीतिक विचार	आगरा
१८	प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में पारिवारिक समस्याएं	आगरा
१९.	प्रेमचन्द-साहित्य में सामाजिक समस्याएं	प्रयाग
२	प्रेमचन्द का नारी-चित्रण तथा उसे प्रभावित करने वाले स्रोत	*
२१	प्रेमचन्द के उपन्यासों में ग्राम-जीवन का चित्रण	आगरा
२२.	प्रेमचन्द की कहानियों के आधार पर तद्युगीन सामाजिक जीवन का अध्ययन	पटना
२३	तुलसी-साहित्य में लोक-तत्त्व	प्रयाग
२४	कविवर [illegible] के काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन	अलीगढ़
२५	सूर-साहित्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन	सागर 1
२६	सूर-साहित्य में सामाजिक चित्रण	पटना
२७	मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय-संस्कृति के आख्याता	*

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
३	नामदेव तथा कबीरदास का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
४	कबीर एवं वेमन का तुलनात्मक अध्ययन	*
५.	कबीर तथा वेमन्ना का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब
६	केशव एवं मीराब का तुलनात्मक अध्ययन	बेंकटेश्वर
७	जयशंकरप्रसाद और कुमारन आसन—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
८.	तुलसीदास और मलयालम के प्रसिद्ध रामभक्त-कवि एझुत्तच्छन का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
९.	तुलसी और कम्बन का तुलनात्मक अध्ययन	काशी
१०	पद्माकर और उनके समसामयिक	*
११	प्रेमचन्द और उनका समसामयिक हिन्दी-साहित्य	लखनऊ
१२	प्रेमचन्द के हिन्दी-उर्दू-उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली
१३	शरत् और प्रेमचन्द के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१४	प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
१५	प्रेमचन्द और रमणलाल वसन्तलाल देसाई के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	*
१६	प्रेमचन्द और गोर्की के कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१७	मीरां और महादेवी का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
१८.	मैथिलीशरण गुप्त और सुब्रह्मण्यम् भारती—एक तुलनात्मक अध्ययन	उस्मानिया
१९	मैथिलीशरण गुप्त और वल्लतोल का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२०	विद्यापति और सूरदास के शृंगार-वर्णन का तुलनात्मक अध्ययन	पटना
२१	वृन्दावनलाल वर्मा और सी. वी. रमनपिल्लै के विशेषाध्ययन-पूर्वक हिन्दी और मलयालम के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२२	भारतेन्दु (हरिश्चंद्र) और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२३	भारतेन्दु और नर्मद—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२४	सूरदास और नरसी मेहता—एक तुलनात्मक अध्ययन	बड़ौदा
२५	छायावाद के संदर्भ में कवि प्रसाद और पन्त का तुलनात्मक अध्ययन	विक्रम

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय

(झ) प्रभाव, देन और योग

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	श्रीगुरु गोरखनाथ और उनका युग	*
२	तुलसीदास पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव	राँची
३	तुलसीदास और उनका युग	*
४	तुलसी-साहित्य पर विभिन्न प्रभाव	पटना
५	गोस्वामी तुलसीदास पर आगमों का प्रभाव	लखनऊ
६	तुलसीदास पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव	राँची
७	नागरीदास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों एवं प्रतिक्रियाओं का अध्ययन	*
८	हिन्दी में मुक्तक छंद का क्रमिक विकास और निराला के मुक्त-काव्य का विशेष अध्ययन	नागपुर
९	प्रेमचन्द के कथा-साहित्य पर उर्दू का प्रभाव	पटना
१०	प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य पर भारतीय उपन्यासों का प्रभाव	दिल्ली
११	बिहारी और उनका युग	पटना
१२	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग	*
१३	महाकवि शंकर और उनकी हिन्दी-साहित्य को देन	आगरा
१४	राजा शिवप्रसादसिंह की हिन्दी-सेवा	नागपुर
१५	हिन्दी-साहित्य को उदासीपन्थ के संतों की देन	पंजाब
१६	श्रीमद्भागवत और सूरदास	*
१७	सूरदास पर वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों का प्रभाव	प्रयाग
१८	हिन्दी-साहित्य को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देन	कलकत्ता
१९	तुलसीदास पर आगमों का प्रभाव	राजस्थान

(ञ) प्रवृत्ति

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	जयशंकरप्रसाद की काव्य-प्रवृत्ति	*

(ट) प्रकृति, प्रेम, और सौन्दर्य (रूप)

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	प्रसाद का प्रकृति-वर्णन	आगरा

क्र	विषय	विश्वविद्यालय

(ठ) वाद

क्र	विषय	विश्वविद्यालय
१	जयशंकर प्रसाद का स्वच्छन्द यथार्थवाद	राजस्थान
२	महादेवी और छायावाद—एक मूल्यांकन	पंजाब
३	रहस्यवादी परम्परा के कवियों में महादेवी—एक अध्ययन	लखनऊ
४	छायावादी काव्य और निराला	काशी

(ड) शैली

क्र	विषय	विश्वविद्यालय
१	सूरदास के (कूट-पदों के विशिष्ट संदर्भ में) सूर-काव्य का अध्ययन	*
२	सूरदास के काव्य में बिम्ब-विधान	पंजाब
३	सूर-काव्य में अप्रस्तुत-योजना	प्रयाग
४	सूर-काव्य में प्रतीक विधान	आगरा

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१८	मुल्ला दाऊद के चंदायन के विशिष्ट संदर्भ में लोरिक और चंदा के लोक-प्रचलित लोकगीतों का अध्ययन	प्रयाग
१९	पद्मिनी चौपाई (हेमरतन कृत)—एक आलोचनात्मक अध्ययन	राजस्थान
२०	पुहकर कवि का 'रस-रतन'	बम्बई
२१	बिहारी-सतसई की टीकाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	विक्रम
२२	सूदन का सुजान-चरित और उसकी भाषा	*
२३	रामचरितमानस की अन्तःकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	*
२४	(भाई संतोखसिंह के) नानकप्रकाश और सूर्यप्रकाश का वर्णन भाषा तथा रस-सम्बन्धी अध्ययन	पंजाब
२५	महाराजरघुराजसिंह-कृत प्रमोदसागर का आलोचनात्मक अध्ययन	बड़ौदा

(ख) परम्परा और धारा

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	राम-काव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का अध्ययन	*
२	भारतीय महाकाव्यों की परम्परा में कामायनी	आगरा
३	हिन्दी का मध्यकालीन विनय-काव्य और उसमें विनयपत्रिका का स्थान	आगरा

(ग) धर्म, दर्शन और मनोविज्ञान

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	आदि गुरुग्रन्थ साहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त	*
२	'श्रीगुरुग्रन्थ साहब' में संकलित कवियों के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन	*
३	रामचरितमानस के विशिष्ट सन्दर्भ में तुलसीदास का शिक्षा-दर्शन	*
४	वाचस्पति मिश्र-कृत आचार-चिन्तामणि का अध्ययन और आलोचनात्मक सम्पादन (प्रस्तावना में धर्म-सूत्रों, स्मृतियों तथा निबन्धों में विकसित धर्म-व्यवस्था और उसमें प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन का निरूपण)	आगरा
५	रामचरितमानस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	*

(घ) इतिहास और विकास

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	पृथ्वीराज रासो के पात्रों का ऐतिहासिक अध्ययन	*
२	रामकथा के पात्रों का स्वरूप-विकास	दिल्ली

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण का वंशभास्कर—ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययन	राजस्थान

(ड) तुलना

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
१	आनन्दधार का मनोवैज्ञानिक और कामायनी का तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब
२	रामचरितमानस और रामचन्द्रिका का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
३	रामचरितमानस और रामायण का तुलनात्मक अध्ययन	•
४	वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	•
५	वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत)	•
६	रामायणोत्तर संस्कृत-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	•
७	अध्यात्म रामायण तथा रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
८	रामचरितमानस वाल्मीकिरामायण एवं अध्यात्म रामायण के नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
९	महाकाव्यों के विशिष्ट संदर्भ में कालिदास और तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१	कंब-रामायणम् और तुलसी-रामायणम् का तुलनात्मक अध्ययन (तमिल)	•
११	महाकवि भानु भक्त के नेपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	•
१२	कृत्तिवासी-बंगला-रामायण और रामचरितमानस तुलनात्मक अध्ययन	•
१३	महाकवि तुलसीकृत रामचरितमानस एवं तमिल महाकवि कम्बन-कृत 'रामायणम्' का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१४	पूर्वकालीन रामचरित-काव्य और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१५	जैन कवि स्वयंभू के 'पउम-चरिउ' (पद्म रा) तथा तुलसीकृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	*
१६	स्वयंभू-कृत रामायण और तुलसीकृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन	बम्बई
१७	रामचरितमानस का तुलनात्मक भाषा-शास्त्रीय अनुशीलन	काशी

(च) साहित्य-सिद्धान्त

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१	कामायनी का काव्य-शास्त्रीय विश्लेषण	राँची
२	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	*
३	रामचरितमानस का शास्त्रीय अध्ययन	नागपुर
४	रामचरितमानस में अलंकार-योजना	लखनऊ
५	रामचरितमानस में उपमान	प्रयाग
६	रामचरितमानस के मनोवैज्ञानिक स्थलों में रस-निष्पत्ति	अलीगढ़
७	विद्यापति की पदावली का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन	पटना
८	(जसोवंतसिंह के) नामकप्रकाश और सूर्यप्रकाश के काव्य-तत्त्व का अध्ययन (रस और अलंकार)	पंजाब
९	सूरसागर का काव्यशास्त्रीय पर्यालोचन	आगरा
१	सूरसागर में रस-व्यंजना	दिल्ली
११	पृथ्वीराज रासो में शृंगार रस	लखनऊ

(छ) प्रभाव

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१	कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव	आगरा
२	कामायनी और काश्मीरी शैवदर्शन	अलीगढ़
३	तुलसीदास के रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव	राजस्थान
४	रामचरितमानस में परम्परा और पारिभाषिक प्रभाव	पटना
५	अध्यात्म रामायण का रामचरितमानस पर प्रभाव	आगरा
६	तुलसी-साहित्य (विशेषतः मानस में) पौराणिक उपाख्यान	पटना
७	रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव	*

(ज) स्रोत, पृष्ठभूमि और आधार

क्र० सं०	विषय	विश्वविद्यालय
१	रामचरितमानस के स्रोत और रचनातन्त्र	*
२	रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत	*

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय

(झ) समाज और संस्कृति

१	मानस में तुलसी-द्वारा वर्णित समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन	पटना
२	रीतिकालीन हिन्दी-साहित्य (विशेषकर बिहारी-सतसई) में उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन	पंजाब
३	पद्माकर में समाज-चित्रण	आगरा
४	वर्ण-रत्नाकर का सांस्कृतिक अध्ययन	पंजाब
५	सूरसागर का लोक-तात्विक अध्ययन	आगरा
६	रामचरितमानस का लोक-तात्विक अध्ययन	आगरा
७	रामचरितमानस में चित्रित समाज	काशी

(ञ) शैली

१	पद्माकर का हास्य-विधान	प्रयाग

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
२१	स्वामी नारायण-सम्प्रदाय का हिन्दी-साहित्य	आनन्द
२२	सन्त कवि पलटूदास और सन्त-सम्प्रदाय	*
२३	सन्त कवि पलटूदास और निर्गुण सम्प्रदाय	आगरा
२४	सन्त पलटूदास और उनका सम्प्रदाय	लखनऊ
२५	सन्त पलटूदास और पलटू-पन्थ	आगरा
२६	बावरी-सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि	*
२७	महात्मा युगलानन्यशरण और उनके सम्प्रदाय में शृंगारी रामभक्ति	गोरखपुर
२८	रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय	*
२९	राधास्वामी-पन्थ और उसका साहित्य	आगरा
३०	राधावल्लभ सम्प्रदाय के सन्दर्भ में हित हरिवंश का विशेष अध्ययन	*
३१	रामसनेही सम्प्रदाय	*
३२	गोस्वामी विट्ठलनाथ और उनके शिष्य कवि	सागर
३३	शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी-काव्य	*
३४	सतनामी सम्प्रदाय	गोरखपुर
३५	सतनामी सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि	लखनऊ
३६	साध सम्प्रदाय	आगरा
३७	सिक्ख-गुरुओं के साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	पंजाब
३८	सन्त साहित्य के आधार पर सिक्ख-गुरुओं का हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा को योगदान	प्रयाग
३९	स्वामीनारायण सम्प्रदाय (गुजरात का १७ वीं शती वि का स्मार्त-वैष्णव सम्प्रदाय) का हिन्दी-काव्य	आगरा
४०	स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य	*
४१	हरिदासी सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि	लखनऊ
४२	स्वामी प्राणनाथ और धामी सम्प्रदाय का साहित्य	सागर
४३	श्री वंशीअलीजी का सम्प्रदाय (ललित सम्प्रदाय) सिद्धान्त और साहित्य	आगरा
४४	बिश्नोई सम्प्रदाय	राजस्थान
४५.	हिन्दी-कविता में रामसनेही सम्प्रदाय	*
४६	दादूपन्थ का एक तुलनात्मक अध्ययन और उसका साहित्य	काशी

13 | वर्ग, स्थान और देश से सम्बन्धित विषय

(क) वर्ग

१ अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि — ●
२ रीवाँ-दरबार के हिन्दी-कवि — ●
३ रीवाँ-दरबार के हिन्दी-कवि — लखनऊ
४ पन्ना-दरबार के कवि—लाल कवि के विशेष अध्ययन के साथ (१६ तक) — सागर
५. अमेठी-दरबार के प्रमुख कवि — लखनऊ
६ ओरछा-दरबार के हिन्दी-कवि — आगरा
७ अयोध्या-दरबार के कवि (१८ –१९५) — आगरा
८ कपूर दरबार के कवियों की १६ वीं शती के ब्रजभाषा साहित्य को देन—कवि मृगेन्द्र के 'प्रेम पयोनिधि' के विशेष अध्ययन के आधार पर — पंजाब
९ मराठा-राजाओं से सम्बन्धित सम्मानित एवं आश्रय-प्राप्त हिन्दी-कवि — पूना
१ हिन्दी-साहित्य में हिन्दू-राजवंशीय परिवारों का योगदान — गोरखपुर
११ राजस्थान के राज-घरानों द्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन — ●
१२ बुन्देलखण्ड के दरबारी कवि — आगरा
१३ बल्लभराय चौबे और उनके मण्डल के कवि — ●
१४ शिवशम्भु और उनका साहित्य—एक अध्ययन — ●
१५ कुल-बन्धुओं की साहित्यिक देन — लखनऊ
१६ मुसलमान भक्तकवि — लखनऊ

(ख) स्थान या प्रदेश

क्र.सं.	विषय	विश्वविद्यालय
१	गुजरात की हिन्दी-सेवा	*
२	गुजरात के कवियों की हिन्दी-काव्य-साहित्य को देन	*
३	गुजरात के कवियों की हिन्दी-साहित्य को देन	अलीगढ़
४	हिन्दी को मराठी सन्तों की देन	*
५.	बैसवाड़े के हिन्दी-कवि	*
६	बैसवाड़ी के साहित्यकार (कवि आलोचक नाटककार, कथाकार)	*
७	राजस्थान का वेलि-साहित्य	*
८	राजस्थान के लौकिक प्रेमाख्यान-काव्य	राजस्थान
९	अलवर क्षेत्र की साहित्यिक परम्परा और ब्रजभाषा-काव्य	राजस्थान
१०	राजस्थान का राम-साहित्य	राजस्थान
११	डिंगल-साहित्य को राजस्थान की देन	*
१२	विक्रम की १८ वीं शताब्दी का राजस्थानी जैन साहित्य और उसका मूल्यांकन	राजस्थान
१३	ढूंढार प्रदेश की विभिन्न साहित्यिक धाराओं का अध्ययन	राजस्थान
१४	मगध के प्रमुख हिन्दी-कवियों का अध्ययन (सं १७ से १९ तक)	*
१५	हिन्दी-साहित्य को मध्यप्रदेश की देन	विक्रम
१६	ब्रजभाषा-साहित्य को राजस्थान की देन (राजस्थान का पिंगल साहित्य	*
१७	हिन्दी-साहित्य को मत्स्य-प्रदेश की देन	*
१८	हिन्दी-साहित्य को कूर्मांचल की देन	लखनऊ
१९.	मध्य प्रदेश का आधुनिक हिन्दी-काव्य	सागर
२०	भोजपुरी-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग
२१	कृष्ण-रुक्मिणी-विवाह-सम्बन्धी राजस्थानी-साहित्य	जोधपुर
२२.	राजस्थानी-साहित्य में प्रकृति-चित्रण	जोधपुर
२३	बुंदेलखण्ड का वीर-काव्य	सागर
२४	कुमायूं के लोक-साहित्य का अध्ययन—नैनीताल-अल्मोड़ा क्षेत्र (?)	आगरा
२५	अमेठी-राज्य के हिन्दी-कवि (जायसी को छोड़ कर)	आगरा

क्रमांक	विषय	विश्वविद्यालय
२६	काशी-राज्य के कवि और उनका काव्य	आगरा
२७	आगरा के हिन्दी-कवि	लखनऊ
२८	सीतापुर जिले के हिन्दी-कवि—एक अध्ययन	लखनऊ
२९	हिन्दी-काव्य को काशी की देन	काशी
३०	वृन्दावन की हिन्दी-साहित्य को देन	आगरा
३१	१९वीं और २०वीं शताब्दी में कानपुर के प्रमुख कवि-सुकवि मंडल के कवियों का विशेष अध्ययन	लखनऊ
३२	राजस्थान का सन्त-साहित्य (१६ ०—१८)	राजस्थान
३३	मध्यप्रदेश के क्षेत्र में कबीर-पंथ और उसका विकास	सागर
३४	राजस्थानी भाषा और साहित्य (संवत् १५ ०-१६)	•
३५	हिन्दी-साहित्य को मध्य-प्रान्त की देन	बड़ौदा
३६	गुजरात के वैष्णव कवियों की हिन्दी-कविता	बड़ौदा
३७	हिन्दी-साहित्य को गुजरात के सन्त कवियों की देन	बड़ौदा
३८	गुजरात का चारणी साहित्य	बड़ौदा
३९	राजस्थानी कथा-साहित्य—एक अध्ययन	•
४०	राजस्थानी वीरगीत	राजस्थान
४१	राजस्थानी सन्त-कवि—उनका दर्शन तथा साहित्य	राजस्थान
४२	भोजपुरी के सन्त कवि	आगरा
४३	मैथिली के कृष्ण-भक्त कवियों का अध्ययन	•
४४	बुन्देलखंडी गद्य-साहित्य	आगरा
४५	अवधी साहित्य का अध्ययन (तुलसी और जायसी को छोड़कर)	प्रयाग

14 संस्कृति, समाज और नारी

(क) संस्कृति और समाज

१	हिन्दी-साहित्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका	●
२	हिन्दी-साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति	●
३	हिन्दी-भक्ति-काव्य और उसकी सांस्कृतिक भूमिका	सागर
४	राजस्थानी साहित्य में लोक-देवता	राजस्थान
५	मध्यकालीन हिन्दी-कविता में भारतीय संस्कृति (१७ – १६)	●
६	मध्यकालीन हिन्दी-कविता (१४ ०–१६) में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व	गोरखपुर
७	निर्गुण-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	●
८	हिन्दी-साहित्य के ब्रजभाषा-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन	आगरा
९	हिन्दी-सूफी-काव्य में भारतीय संस्कृति	आगरा
१०	सगुण भक्ति-काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	●
११	अष्टछाप-कवियों के काव्य (विशेषकर सूर-साहित्य) में वर्णित ब्रज-संस्कृति	●
१२	अष्टछाप-कवियों की कविता का सांस्कृतिक अध्ययन	●
१३	ब्रज के १६ वीं शती के हिन्दी-कृष्ण भक्त कवियों के काव्य में भारतीय संस्कृति का चित्रण	आगरा
१४	मध्ययुगीन कविता में सामाजिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष	बम्बई
१५	रीतिकालीन काव्य का सांस्कृतिक और सामाजिक अध्ययन	अलीगढ़
१६	मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में चित्रित समाज	●
१७	मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन	लखनऊ
१८	इस्लामी संस्कृति का मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में योग	काशी

क्रम	विषय	विश्वविद्यालय
१९	राजस्थान के सांस्कृतिक विकास मे सन्तों एवं लोक-प्रधान सम्प्रदायों एवं उनके साहित्य का योगदान	राजस्थान
२	कवित्रय (कबीर, सूर, तुलसी) सामाजिक पक्ष	*
२१	हिन्दी-सन्त-काव्य की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि	*
२२	सन्त-काव्य (१४ ०--१७ ई) मे सामाजिक चित्रण	लखनऊ
२३	अष्टछाप के आधार पर तत्कालीन समाज और संस्कृति का अध्ययन	आगरा
२४	कृष्ण-काव्य मे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति	दिल्ली
२५	हिन्दी-राम-काव्य की सामाजिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि (१६–१७ वी शती)	*
२६	रीतियुगीन काव्य मे लोक-जीवन	लखनऊ
२७	रीतिकालीन हिन्दी साहित्य मे सामाजिक चित्रण	आगरा
२८	रीतिकालीन हिन्दी-कविता मे सामाजिक चित्रण	प्रयाग
२९	रीतिकाव्य मे पारिवारिक वातावरण	पटना
३	प्रेमाख्यान-काव्य में लोक-संस्कृति	लखनऊ
३१	अवधी-साहित्य और लोक-संस्कृति	नागपुर
३२	आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक आलोक मे आधुनिक हिन्दी-कविता का अध्ययन (भारतेन्दुयुग से १९११ तक)	काशी
३३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (१८२७–१९२)	आगरा
३४	सामाजिक व्यवस्था के विशिष्ट संदर्भ में आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समालोचना	*
३५.	आधुनिक सामाजिक आन्दोलन एवं आधुनिक साहित्य (१९ ०–१९५ ई)	*
३६	आधुनिक हिन्दी-कविता मे समाज (१८५०–१९५ ई)	*
३७	द्विवेदी-युग के काव्य का सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष	सागर
३८	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता के आधार पर भारतीय सामाजिक जीवन का अध्ययन	पटना

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय

(ख) नारी

(i) नारियों का साहित्यिक योग

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी-साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान	नागपुर
२	मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ	*
३	आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास में नारियों का योगदान (संवत् १९ ०-२ तक)	दिल्ली
४	हिन्दी-साहित्य को नारी-कलाकारों की देन (१९ से १९६)	सागर
५	आधुनिक हिन्दी-काव्य के विकास में स्त्रियों का योगदान	गोरखपुर
६	विगत शताब्दी की हिन्दी-कवयित्रियाँ एवं कहानी-लेखिकाएं (१८६०-१९६)	आगरा
७	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कवयित्रियाँ (संवत् १९ ०-२)	गुजरात
८	अवध की हिन्दी-कवयित्रियाँ	लखनऊ
९	हिन्दी की गद्य-लेखिकाएं	आनन्द
१	हिन्दी-कथा-साहित्य को नारियों की देन	लखनऊ
११	हिन्दी-कथा-साहित्य के विकास में नारियों का योग (सं १९२५ से अब तक)	आगरा
१२	हिन्दी-गद्य-कथा-साहित्य में स्त्रियों का कार्य	गोरखपुर

(ii) नारी-चित्रण

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	हिन्दी प्रबन्ध काव्यों में नारी	उस्मानिया
२	हिन्दी के प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों में नारी का स्वरूप	पंजाब
३	हिन्दी-महाकाव्यों में नारी-चित्रण	*
४	हिन्दी-काव्य में नारी की मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक रूप	जोधपुर
५	मध्ययुगीन साहित्य में नारी	*
६	भक्तिकाल में नारी-चित्रण	आगरा
७	हिन्दी-नाट्य-साहित्य में नारी-चित्रण	प्रयाग
८	भक्तिकालीन काव्य में नारी	*
९.	रीतिकाल में नारी-चित्रण	नागपुर

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी (१८५ से १९३६ ई)	*
११	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी	*
१२	आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी-चित्रण (१८५०-१९५ तक)	*
१३	छायावादी हिन्दी-काव्य में नारी	आगरा
१४	हिन्दी-नाटकों में नारी	आगरा
१५	आधुनिक हिन्दी-नाटकों में नारी-चित्रण	*
१६	आधुनिक हिन्दी-नाटकों में नारी-चित्रण (बाबू हरिश्चन्द्र से लेकर प्रसाद तक)	*
१७	हिन्दी-उपन्यासों में नारी	*
१८	हिन्दी-उपन्यासों में नारी-चित्रण	*
१९	हिन्दी-उपन्यास में नारी	लखनऊ
२	हिन्दी-उपन्यासों में नारी-चित्रण	नागपुर
२१	आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य में नारी का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास	जबलपुर
२२	आधुनिक उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना	प्रयाग
२३	प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
२४	जैनेन्द्र के उपन्यासों में नारी-पात्र	पूना
२५	आधुनिक भारतीय समाज में नारी और प्रसाद के नारी-पात्र	*
२६	मानस अध्यात्म और वाल्मीकि रामायण के नारी-पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर

(iii) नारी भावना

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	मध्यकालीन काव्य में नारी-भावना	*
२	रीति-साहित्य में नारी-भावना	काशी
३	आधुनिक हिन्दी-काव्य में नारी-भावना (१९ ०-१९४५ ई)	*
४	प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य में नारी-भावना	लखनऊ

15 लोक-साहित्य

(क) लोक-साहित्य (सामान्य)

१ ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन	•
२. ब्रज के देवी-देवताओं से सम्बद्ध लोक-साहित्य का अध्ययन	आगरा
३ ब्रजलोक-विश्वास-निबद्ध लोक-साहित्य	आगरा
४ अवधी का लोक-साहित्य	विक्रम
५. अवधी-ग्राम-साहित्य	लखनऊ
६ खड़ीबोली के लोक-साहित्य का अध्ययन	•
७ खड़ीबोली प्रान्त का लोक-साहित्य	आगरा
८ भोजपुरी का लोक-साहित्य	•
९. मगही बोली का लोक-साहित्य	पटना
१० मालव-लोक-साहित्य	•
११ बुन्देलखण्डी लोक-साहित्य	नागपुर
१२ बुन्देली लोक-साहित्य	विक्रम
१३ बुन्देली लोक-साहित्य	जबलपुर
१४ बुन्देलखण्ड के प्रख्यात लोक-कवि—जीवन वृत्त एवं तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१५. बघेली-लोक-साहित्य का अध्ययन	•
१६ छत्तीसगढ़ी-लोक-साहित्य का अध्ययन	विक्रम
१७ छत्तीसगढ़ी-लोक-साहित्य का अध्ययन	नागपुर
१८ हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य	•
१९. कौरव का लोक-साहित्य	आगरा
२० मेवाड़ी-लोक-साहित्य	राजस्थान
२१ पश्चिमी पर्वतीय लोक-साहित्य	पंजाब
२२ कुल्लवी लोक-साहित्य	पंजाब

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
३	राजस्थानी लोक-गाथाएं	*
४	राजस्थानी लोक-गाथाएँ	राजस्थान
५	कुमायूं की लोक-गाथाओं का अध्ययन तथा भोजपुरी लोक गाथाओं के साथ उनकी तुलना	आगरा

(iv) लोक-नाटक

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	राजस्थानी लोक-नाटक (ख्याल साहित्य) का एक अध्ययन	*
२	ब्रज प्रदेश की स्वांग-कला	आगरा
३	हिन्दी में लोक-नाट्य-शिल्प का विकास	पटना
४	हिन्दी में लोक-नाट्य-परम्परा	दिल्ली
५	लोक-नाटकों में धार्मिक तत्त्व	पटना

16 ‖ इतिहास विकास

१ हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विभिन्न स्रोतों का विवेचन (सं १६४६–१६४५)	आगरा
२ हिन्दी-साहित्य में इतिहास का उद्भव और विकास	पंजाब
३ शिवसिंह सरोज में दिये कवियों-सम्बन्धी तथ्य एवं तिथियों का आलोचनात्मक परीक्षण	*
४ हिन्दी-साहित्य का तिथिक्रम	पटना
५ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (७२ वि से १७ वि०)	*
६ आदिकालीन हिन्दी-साहित्य के इतिहास का नवीन खोजों के आधार पर पुनर्मूल्यांकन (१ से १४० तक)	काशी
७ राजस्थानी के गद्य-साहित्य का इतिहास और विकास	*
८ १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों की अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन (प्र द की)	*
९ १६ तथा १७ वीं शताब्दियों के हिन्दी-साहित्य द्वारा इतिहास पर प्रकाश	लखनऊ
१० आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८५ से १९ ई)	*
११ हिन्दी-साहित्य का विकास (१९ से १९२५ ई)	*
१२ हिन्दी-साहित्य (१९२६ से १९४७ ई)	*
१३ हिन्दी-साहित्य (१९१५ से १९५० ई)	*
१४ प्र मकर के पश्चात् हिन्दी-साहित्य का विकास	सागर

क्र. सं.	विषय	विश्वविद्यालय
२३	कुमाऊँ के जन-साहित्य का अध्ययन—नैनीताल-अल्मोड़ा-क्षेत्र	*
२४	अवधी-लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा सामाजिक अध्ययन	प्रयाग
२५	इलाहाबाद तथा प्रतापगढ़ जिलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन	प्रयाग
२६	अलीगढ़ तथा मथुरा जिलों के लोक-साहित्य के आधार पर सांस्कृतिक तथा भाषागत अध्ययन	प्रयाग
२७	बुन्देलखण्ड प्रदेश की लोकोक्तियाँ मुहावरे और लोक कथाएं	*
२८	हरियाना की लोक-संस्कृति और साहित्य	पंजाब
२९	कन्नौजी बोली के साहित्य में सामाजिक प्रतिबिम्ब	आगरा
३०	बाँगरू बोली (रोहतक जिले के आधार पर) में सामाजिक स्तरों तथा सम्बन्धों की अभिव्यक्ति	आगरा
३१	बैताल पच्चीसी और उसकी हिन्दी परम्परा का लोक-साहित्य की दृष्टि से अध्ययन	आगरा
३२	सिंहासनबत्तीसी तथा उसकी हिन्दी-परम्परा का लोक-साहित्य की दृष्टि से अध्ययन	आगरा
३३	मालवी एवं निमाड़ी का लोकोक्ति-साहित्य	विक्रम

(ख) लोक-साहित्य (विशेष)

(i) लोक-कथा

क्र. सं.	विषय	विश्वविद्यालय
१	भारतीय लोक-कथाएँ	विक्रम
२	हिन्दी की क्षेत्रीय लोक-कथाओं के कथा-नायक रूप तथा अभिप्राय	आगरा
३	पंजाबी की लोक-कथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन	पंजाब
४	लोक-कथा लोकायन	पटना
५	ब्रज की लोक-कथाएं	आगरा
६	राजस्थानी बात-साहित्य—एक अध्ययन	राजस्थान
७	राजस्थानी कथा-साहित्य	जोधपुर

(ii) लोक-गीत

क्र. सं.	विषय	विश्वविद्यालय
१	मालवी लोक-गीत	*

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
३	राजस्थानी लोक-गाथाएं	*
४	राजस्थानी लोक-गाथाएँ	राजस्थान
५	कुमायूं की लोक-गाथाओं का अध्ययन तथा भोजपुरी लोक गाथाओं के साथ उनकी तुलना	आगरा
(iv) लोक-नाटक		
१	राजस्थानी लोक-नाटक (ख्याल साहित्य) का एक अध्ययन	*
२	ब्रज प्रदेश की स्वांग-कला	आगरा
३	हिन्दी में लोक-नाट्य-शिल्प का विकास	पटना
४	हिन्दी में लोक-नाट्य-परम्परा	दिल्ली
५.	लोक-नाटकों में धार्मिक तत्त्व	पटना

17 || तुलनात्मक अध्ययन

(क) हिन्दी-गद्य-साहित्य

१	प्रसाद तथा प्रेमचन्द के कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२	प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द-परवर्ती हिन्दी-उपन्यास का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली

(ख) हिन्दी एवं अहिन्दी-गद्य-साहित्य

१	हिन्दी और उर्दू गद्य का विकास (१८ –१९) भाषा और साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२	बंगला मराठी और गुजराती के रंगमंच के संदर्भ में हिन्दी रंगमंच और नाटकों का विशेष अध्ययन	आगरा
३	हिन्दी और मराठी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	•
४	आधुनिक मराठी और हिन्दी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
५	हिन्दी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९ ०–१९५ तक)	•
६	मराठी और हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास	बम्बई
७	हिन्दी और मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९ ०–१९६ तक)	आगरा
८	हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (१९१०–१९४०)	बम्बई
९	हिन्दी और मराठी के समस्यामूलक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	पूना

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१२	हिन्दी-नाटक-साहित्य का विकास तथा कन्नड़-नाट्य-साहित्य से उसकी प्रासंगिक तुलना	•
१३	हिन्दी और मलयालम के आधुनिक गद्य का विकास	सागर
१४	हिन्दी और मलयालम की गद्य-शैलियाँ—एक तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१५	हिन्दी और मलयालम के आधुनिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१६	हिन्दी और मलयालम के आधुनिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	केरल
१७	हिन्दी और मलयालम के आधुनिक सामाजिक नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१८	वर्तमान हिन्दी और मलयालम के उपन्यास और कहानी—साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१९	हिन्दी और मलयालम के सामाजिक उपन्यास (१९ से १९६)	•
४०	हिन्दी तथा अंग्रेजी के ऐतिहासिक उपन्यास (वृन्दावनलाल वर्मा तथा वाल्टर स्काट के विशेष अध्ययन के साथ)	आगरा
४१	आधुनिक हिन्दी और बंगला गद्य-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली
४२	हिन्दी और गुजराती नाट्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (सन् १९ ०–१९५८)	•

(ग) हिन्दी—कविता

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	अवधी ब्रज और भोजपुरी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	•
२	प्राचीन और नवीन रहस्यवादी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
३	सूफी और असूफी प्रेमाख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन	•
४	सूफी तथा सन्त प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
५	नाथ और सन्त-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	•
६	विद्यापति तथा सूरदास की भक्ति तथा शृंगार भावना—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
७	कबीर और कबीर पंथ का एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
८	कबीर, नानक और दादू का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
९.	हिन्दी-संत-साहित्य के तत्कालीन तथा परंपरागत तत्वों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१०	महाराष्ट्रीय संतों की हिन्दी-कविता एवं उत्तर भारतीय संत कविता से उसका तुलनात्मक भाषाशास्त्रीय तथा साहित्यिक विवेचन	विक्रम
११	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में शृंगार प्रसाधन और तत्कालीन मूर्तिकला तथा चित्रकला में प्राप्त सामग्री से तुलना (१२ १८)	प्रयाग
१२.	मध्यकालीन भक्ति-काव्य की साहित्यिक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	काशी
१३	हिन्दी-गीति-काव्य-परम्परा में मीरां और महादेवी—एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
१४	द्विवेदी युगीन-खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१५.	छायावाद के संदर्भ में कवि प्रसाद और पंत का तुलनात्मक अध्ययन	विक्रम
१६	आधुनिक हिन्दी-काव्य पर गांधीवादी एवं मार्क्सवादी साहित्य के प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१७	संत-सम्प्रदाय और नाथ-संप्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग

(घ) हिन्दी-अहिन्दी-काव्य

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन	पटना
२	कालिदास तथा हिन्दी काव्यों की विभिन्न धारा का तुलनात्मक आलोचनात्मक अध्ययन (संस्कृत)	●
३	हिन्दी और फारसी सूफी-काव्य—एक तुलनात्मक अध्ययन	पंजाब
४	हिन्दी और उर्दू काव्य का एक तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
५.	हिन्दी और उर्दू के कथा-साहित्य (सं १९००-१९) की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
६	आधुनिक हिन्दी और उर्दू काव्य की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन (१९ से १९६१ तक)	आगरा
७	हिन्दी और उर्दू-काव्य (१७६८-१८५) का तुलनात्मक अध्ययन	पटना
८	हिन्दी और उर्दू के प्रेमाख्यानक काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली
९	रीतिकालीन हिन्दी तथा उर्दू काव्य (१८ वीं शताब्दी) में विरह-वर्णन—तुलनात्मक अध्ययन	अलीगढ़
१०	हिन्दी साहित्य में रीतिमुक्त काव्य धारा एवं उर्दू-साहित्य में ग़ालिब-युगीन काव्य-धारा का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
११	१९ वीं शताब्दी के हिन्दी और उर्दू काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
१२	हिन्दी और मराठी की मानवतावादी तथा राष्ट्रवादी काव्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन	नागपुर
१३	हिन्दी और मराठी के संत कवियों का तुलनात्मक अध्ययन	•
१४	हिन्दी और मराठी का निर्गुण काव्य (११ वीं से १५ वीं शती तक)—तुलनात्मक अध्ययन	•
१५	मराठी और हिन्दी के वैष्णव-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
१६	मराठी और हिन्दी के कृष्ण-परक वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (११ वीं से १६ वीं शती तक)	पंजाब
१७	२० वीं शती के प्रथम चरण के हिन्दी गद्य-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१८	मराठी संत कवि नामदेव, ज्ञानेश्वर एवं तुकाराम और हिन्दी संत कवि कबीर, नानक एवं दादू का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
१९	हिन्दी और मराठी के राम-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	मद्रास
२०	हिन्दी और मराठी के आधुनिक गीति-काव्य का तुलनात्मक अनुशीलन	नागपुर
२१	गुजराती और हिन्दी का भक्ति-साहित्य	बम्बई
२२	हिन्दी और गुजराती संत-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
२३	हिन्दी और गुजराती कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	•
२४	हिन्दी तथा गुजराती पुष्टिमार्गीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
४३	हिन्दी और तेलगु के मध्यकालीन राम-साहित्य का तुलनात्मक अनुशीलन	सागर
४४	हिन्दी एवं आधुनिक तेलगु कविता का तुलनात्मक अध्ययन	वेंकटेश्वर
४५	हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन	
४६	हिन्दी तथा कन्नड़ साहित्य में श्रीकृष्ण का स्वरूप	मैसूर
४७	हिन्दी और मलयालम के भक्त-कवियों का तुलनात्मक अध्ययन	
४८	हिन्दी और मलयालम के भक्ति-काव्य में वात्सल्य रस—एक तुलनात्मक अध्ययन	सागर
४९.	हिन्दी और मलयालम साहित्य में राम-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन	सागर
५०	हिन्दी और मलयालम कविता पर राष्ट्रीयतावाद का प्रभाव—एक तुलनात्मक अध्ययन	केरल
५१	आधुनिक हिन्दी और मलयालम कविता में प्रतिबिंबित सामाजिक विचार—तुलनात्मक अध्ययन	केरल
५२	आधुनिक हिन्दी और मलयालम काव्य में प्रकृति का उपयोग	सागर
५३	हिन्दी और मलयालम कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति	दिल्ली
५४	मलयालम और हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कविताओं का तुलनात्मक अध्ययन	केरल
५५.	२ वीं शताब्दी के हिन्दी-काव्य और मलयालम-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन (१९२०-१९५)	
५६	आधुनिक तमिल और हिन्दी कविता में राष्ट्रीय-भावना	दिल्ली

(ख) सिद्धान्त और शैली

क्र०सं	विषय	विश्वविद्यालय
१	प्राचीन और नवीन हिन्दी-कहानी की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन	गोरखपुर
२	संस्कृत और हिन्दी काव्य-शास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा
३	हिन्दी-काव्य में बिम्ब-विधान का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन	पटना

क्र०सं०	विषय	विश्वविद्यालय
४	संस्कृत और आधुनिक हिन्दी-नाट्य-शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन	प्रयाग
५	आधुनिक हिन्दी और बंगला-काव्य शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन	दिल्ली
६	संस्कृत एवं [illegible] की एकांकी की रचना-विधि के प्रकाश में हिन्दी-एकांकी-रचना-विधि का तुलनात्मक अध्ययन	लखनऊ
७	हिन्दी और [illegible] के महाकाव्यों के रचना विधान का आलोचनात्मक अध्ययन	*
८	हिन्दी और कन्नड़ साहित्य में भक्ति—तुलनात्मक अध्ययन	*
९	हिन्दी तथा मलयालम के आधुनिक समीक्षा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन (१९ से १९६ तक)	सागर
१	रीतिकाल के हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थों तथा १७-१८ वीं शती के भाषा-काव्य-शास्त्र-समीक्षा-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन	आगरा

क्र स	विषय	विश्वविद्यालय
२२	हिन्दी-साहित्य मे हास्य और वाक्चातुर्य	लखनऊ
२३	हिन्दी-साहित्य मे राष्ट्रीयता	बड़ौदा
२४	हिन्दी-साहित्य मे राष्ट्रीयतावाद	पंजाब
२५	हिन्दी-साहित्य और अर्द्धतवाद	पंजाब
२६	हिन्दी-साहित्य में विविध वाद	*
२७	हिन्दी-साहित्य में जीवनचरित का विकास—एक अध्ययन	*
२८	हिन्दी मे जीवनी और आत्मकथा-विषयक साहित्य	पटना
२९	हिन्दी-साहित्य मे आत्मकथात्मक संकेत	आगरा
३	पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य का सैद्धान्तिक तथा भक्तिपरक अध्ययन	अलीगढ़
३१	वार्ता-साहित्य का जीवनीमूलक अध्ययन	*
३२	हिन्दी-साहित्य और आलोचना मे अभिरुचि का विकास	*
३३	साहित्यिक वृत्त (१८४०-१९४)-साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन	प्रयाग
३४	प्रयाग का साहित्यिक वृत्त (१८५०-१९५०)—साहित्य की मानवीय पृष्ठभूमि का अध्ययन	प्रयाग
३५.	सूत-काव्य का उद्भव और विकास	आगरा
३६.	हिन्दी-डिक्तियों का अध्ययन	आगरा
३७	प्रबोधचंद्रोदय और उसकी हिन्दी-परम्परा	*
३८	भारतीय राष्ट्रभाव के विकास की हिन्दी-साहित्य मे अभिव्यक्ति (१९२०-१९३७)	*
३९.	हिन्दी-नाममाला-साहित्य	*
४	हिन्दी मे बाल-साहित्य	लखनऊ
४१	हिन्दी का बालोपयोगी साहित्य	*
४२	गुरुमुखी लिपि मे हिन्दी-साहित्य (१७ वीं १८ वीं शती)	*
४३	गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी-गद्य-साहित्य	दिल्ली
४४	गुरुमुखी लिपि मे हिन्दी-गद्य (१८-१९ वी शती)	पंजाब
४५.	अंग्रेज शासकों की शिक्षा-नीति और हिन्दी-भाषा तथा साहित्य के विकास में उसका योग	*

क्र सं	विषय	विश्वविद्यालय
४६	आधुनिक हिन्दी-साहित्य को अहिन्दी-लेखकों का योगदान (१९०० ई० से वर्तमान समय तक)	विक्रम
४७	हिन्दी-साहित्य के विकास में ईसाई प्रचारकों का योगदान	आगरा
४८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य को धार्मिक संस्थाओं और विदेशी मिशनरियों (धर्म-प्रचारकों) की देन	कलकत्ता
४९	आधुनिक भारतीय भाषाओं का हिन्दी-अनुवाद-साहित्य	लखनऊ
५०	द्विवेदी-युग का अनुवाद-साहित्य	विक्रम
५१	संस्कृत-नाटकों के हिन्दी-अनुवाद	दिल्ली
५२	बंगाली के हिन्दी-अनुवादों का सर्वेक्षण और मूल्यांकन	दिल्ली
५३	'प्रभा' तथा 'प्रताप' के कवि और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का विशेष अध्ययन	सागर
५४	भोजपुरी-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	प्रयाग

19 स्वीकृत शोध प्रबन्ध (विश्वविद्यालय-क्रम से)

(डी लिट् की उपाधि के लिए)

	क स	विषय
आगरा विश्वविद्यालय		
सन् १९३८	१	तुलसीदास के रामचरितमानस का अध्ययन—हरिहर नाथ हुक्कू
१९४९	२	रीतिकाल के संदर्भ में देव का अध्ययन—नगेन्द्र नगाइच
१९५६	३	वैदिक भक्ति तथा मध्यकालीन हिन्दी-भक्ति-काव्य में उसकी अभिव्यक्ति—मुंशीराम
१९५७	४	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य के प्रेमगाथा-काव्य और भक्ति-काव्य में लोकवार्ता-तत्त्व—गौरीशंकर
	५	हिन्दी की निर्गुण-काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—गोविन्दशरण
१९५८	६	रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय —भगवतीप्रसादसिंह
१९५९	७	गोस्वामी तुलसीदास—व्यक्तित्व दर्शन साहित्य —रामदत्त भारद्वाज
१९६	८	भक्तिकालीन हिन्दी-सन्त-साहित्य की भाषा (सं १३७५ से १७) —प्रेमनारायण शुक्ल
	९.	निम्बार्क मत और उसका हिन्दी के भक्ति काव्य पर प्रभाव (संस्कृत विभाग) —किरणकुमारी गुप्त
१९६२	१	आधुनिक कविता की मूल प्रवृत्तियाँ —राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
	११	हिन्दी-साहित्य (सं १९४९-१९५२) के इतिहास के विविध स्रोतों का विश्लेषण —किशोरीलाल गुप्त
	१२	तुलसी के काव्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण —अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

२ आगरा विश्वविद्यालय (पी एच डी)

सन् १९४७	१	हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास और विकास —सोमनाथ गुप्त
१९४८	२	हिन्दी-काव्य में प्रकृति चित्रण—श्रीमती किरणकुमारी गुप्ता
	३	श्रीगुरु वीरसनाथ और उनका युग —टी एन डी आचार्य
१९४९	४	व्रजलोक-साहित्य का अध्ययन —सत्येन्द्र
	५	जायसी उनकी कला और दर्शन —जयदेव कुलश्रेष्ठ
१९५१	६	हिन्दी-साहित्य में अलंकार —ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ
	७	कबीर की विचारधारा —गो ना त्रिगुणायत
	८	भारतीय साधना और सूर-साहित्य —मुंशीराम शर्मा
	९	हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन —उमेशचन्द्र त्रिपाठी
	१	हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास और विकास —भगवत्स्वरूप मिश्र
१९५२	११	रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला —विश्वम्भरनाथ भट्ट
	१२	बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य —प्रतिपालसिंह
	१३	हिन्दी-कविता में शृंगार रस का अध्ययन —राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
	१४	हिन्दी-साहित्य में विविध वाद —प्रेमनारायण शुक्ल
	१५	उपन्यासकार प्रेमचन्द उनकी कला सामाजिक विचार और दर्शन —शंकरनाथ गुप्त
१९५३	१६	श्रीमद्भागवत और सूरदास —हरवंशलाल शर्मा
	१७	तुलसी-दर्शन —रामदत्त भारद्वाज
१९५४	१	मध्य पहाड़ी भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध —गुणानन्द जुयाल
	१९	कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत —श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
	२	हिन्दी-पद्य-काव्य का आलोचनात्मक और वर्णनात्मक अध्ययन —पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
	२१	रामानन्द और मध्यकाल की साम्प्रदायिक काव्य-धारा —मनोहरलाल गौड़

	२२	हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन —ब्रह्मदत्त शर्मा
	२३	हिन्दी में पशु-चारण काव्य —दयाशंकर शर्मा
१९५५	२४	आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य —रामेश्वरलाल खंडेलवाल
	२५	आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद—शम्भुनाथ पाण्डेय
	२६	सन् १ ई० से काव्यगत शैली के विषय में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद —कपिलदेवसिंह
	२७	रामानन्द सम्प्रदाय और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव—बदरीनारायण श्रीवास्तव
	२८	रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत—सीताराम कपूर
	२९	१९ वीं शती का रामभक्ति-साहित्य विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन —भगवतीप्रसादसिंह
	१	हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४ से १७ ई० तक) —ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव
१९५६	११	काव्य में रस—आनन्दप्रकाश दीक्षित
	१२	हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन (१९७२-१९२५) —रामचन्द्र मिश्र
	१३	वार्ता-साहित्य का जीवनी-मूलक अध्ययन—हरिहरनाथ टंडन
	१४	कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली : अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर —अम्बाप्रसाद सुमन
	१५.	सन्त सुन्दरदास—महेशचन्द्र सिंघल
	१६	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में समाज-चित्रण—सत्येन्द्रदत्त
	१७	हिन्दी-साहित्य में हास्यरस —बरसानेलाल चतुर्वेदी
	१८	आदि श्री गुरुग्रन्थ साहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त —जयराम मिश्र
१९५७	१९	बालमुकुन्द गुप्त : उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन —नत्थनसिंह

२ आगरा विश्वविद्यालय (पी एच डी)

वर्ष	क्रम	विषय एवं शोधकर्ता
सन् १९४७	१	हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास और विकास —सोमनाथ गुप्त
१९४८	२.	हिन्दी-काव्य में प्रकृति चित्रण—श्रीमती किरणकुमारी गुप्ता
	३	गुरु गोरखनाथ और उनका युग —टी एन वी आचार्य
१९४९	४	ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन —गौरीशंकर 'सत्येन्द्र'
	५	जायसी उनकी कला और दर्शन —जयदेव कुलश्रेष्ठ
१९५१	६	हिन्दी-साहित्य में अलंकार —ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ
	७.	कबीर की विचारधारा —जी एस त्रिगुणायत
	८	भारतीय साधना और सूर-साहित्य —मुंशीराम शर्मा
	९.	हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन —उमेशचन्द्र त्रिपाठी
	१	हिन्दी-साहित्य में आलोचना का इतिहास और विकास —भगवत्स्वरूप मिश्र
१९५२	११	रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला —विश्वम्भरनाथ भट्ट
	१२	बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य —प्रतिपालसिंह
	१३	हिन्दी-कविता में शृंगार रस का अध्ययन —राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
	१४	हिन्दी-साहित्य में विविध वाद —प्रेमनारायण शुक्ल
	१५.	उपन्यासकार प्रेमचन्द उनकी कला सामाजिक विचार और दर्शन —शंकरनाथ शुक्ल
१९५३	१६	श्रीमद्भागवत और सूरदास —हरवंशलाल शर्मा
	१७	तुलसी-दर्शन —रामदत्त भारद्वाज
१९५४	१८	मध्य पहाड़ी भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध —गुणानन्द जुयाल
	१९.	कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत —श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
	२	हिन्दी-गद्य-काव्य का आलोचनात्मक और रचनात्मक अध्ययन —पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
	२१	[illegible] और [illegible] की स्वच्छन्द काव्य-धारा —मनोहरलाल गौड़

	२२	हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन —ब्रह्मदत्त शर्मा
	२३	हिन्दी में पशु-चारण काव्य —रमाशंकर शर्मा
१९५५	२४	आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य —रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
	२५.	आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद—शम्भुनाथ पाण्डेय
	२६	सन् १ वर्ष में काव्यगत शैली के विषय में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद —कपिलदेवसिंह
	२७	रामानन्द सम्प्रदाय और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव—बद्रीनारायण श्रीवास्तव
	२८	रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत—सीताराम कपूर
	२९.	१६ वीं शती का रामभक्ति-साहित्य विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन —भगवतीप्रसादसिंह
	३०	हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४ से १७ तक) —ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव
१९५६	३१	काव्य में रस—आनन्दप्रकाश दीक्षित
	३२	हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की भूमिका का अनुशीलन (१९०५–१९२५) —रामचन्द्र मिश्र
	३३	वार्ता-साहित्य का जीवनी-मूलक अध्ययन—हरिहरनाथ टंडन
	३४	कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली : अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर —अम्बाप्रसाद सुमन
	३५.	सन्त सुन्दरदास—महेशचन्द्र सिंघल
	३६	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में समाज-चित्रण—सर्वेशरत
	३७	हिन्दी-साहित्य में हास्यरस —बरसानेलाल चतुर्वेदी
	३८	आदि श्री गुरुग्रन्थ साहबजी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त —जयराम मिश्र
१९५७	३९.	बालमुकुन्द गुप्त : उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन —नत्थनसिंह

१ लखनऊ विश्वविद्यालय

सन् १६२६	१	चरणदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार —त्रिलोकीनारायण दीक्षित
	२	हिन्दी-नाटकों और उपन्यासों पर पाश्चात्य (आंग्ल रूसी और फ्रांसीसी) प्रभाव —विश्वनाथ मिश्र
१६६	३	तुलसी-दर्शन-मीमांसा —उदयभानुसिंह
	४	व्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प —सावित्री सिन्हा

बिहार विश्वविद्यालय

सन् १६११	१	आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों का शिल्प-विधान —श्यामनन्दन प्रसाद किशोर

(डी फिल या पी एच डी की उपाधि के लिए)

अलीगढ़ विश्वविद्यालय (पी एच डी)

सन् १६५६	१	परमानन्ददास और उनका साहित्य—गोवर्धननाथ शुक्ल
	२	हिन्दी के पौराणिक नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन —देवर्षि सनाढ्य
१६२८	३	सेनापति और उनका साहित्य —विजयपालसिंह
	४	भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में योग-भावना —शिवशंकर शर्मा
	५	अष्टछाप के कवियों में व्रज-संस्कृति (सूर के विशेष संदर्भ में)—रामेन्द्रप्रसाद शर्मा
१६२१	६	कृष्णभक्ति-साहित्य की पृष्ठभूमि—गिरिधारीलाल शास्त्री
	७	भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य में राधा का स्वरूप —द्वारिका प्रसाद मीतल
	८	कृष्णकाव्यधारा में मुसलमान कवियों का योगदान (१६ ०—१८१)—हरीसिंह
	९.	व्रजभाषा और खड़ी बोली के व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन—मोहनलाल शर्मा
१६६	१	रामकाव्य में सामाजिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि (१६ वीं तथा १७ वीं शती)—रामशरण वर्मा
१६११	११	प्राचीन हिन्दी-साहित्य पर जैन-साहित्य का प्रभाव—कामताप्रसाद जैन
	१२	श्रीमद्भागवत का हिन्दी-कृष्ण-भक्ति-साहित्य पर प्रभाव —विश्वनाथ शुक्ल

	२२	हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन —ब्रह्मदत्त शर्मा
	२३	हिन्दी में पशु-चारण काव्य —दयाशंकर शर्मा
१९५५	२४	आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य —रामेश्वरलाल खण्डेलवाल
	२५	आधुनिक हिन्दी-काव्य में निराशावाद—शम्भुनाथ पाण्डेय
	२६	गत १ वर्ष में काव्यगत शैली के विषय में ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद —कपिलदेवसिंह
	२७	रामानन्द सम्प्रदाय और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव—बद्रीनारायण श्रीवास्तव
	२८	रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत—सीताराम कपूर
	२९.	१९ वीं शती का रामभक्ति-साहित्य विशेषतः महात्मा बनादास का अध्ययन —भगवतीप्रसादसिंह
	३	हिन्दी-काव्य में करुण रस (१४०० से १७ तक) —ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव
१९५६	३१	काव्य में रस—आनन्दप्रकाश दीक्षित
	३२	हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन (१९७५–१९२५) —रामचन्द्र मिश्र
	३३	वार्ता-साहित्य का जीवनी-मूलक अध्ययन—हरिहरनाथ टंडन
	३४	कृषक-जीवन-सम्बन्धी शब्दावली : अलीगढ़-क्षेत्र की बोली के आधार पर —अम्बाप्रसाद सुमन
	३५.	सन्त सुन्दरदास—मोहनचन्द्र तिवारी
	३६	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में समाज-चित्रण—[illegible]
	३७	हिन्दी-साहित्य में हास्यरस —बरसानेलाल चतुर्वेदी
	३८	आदि श्री पुरुषम शाहजी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त —जयराम मिश्र
१९५७	३९	बालमुकुन्द गुप्त : उनके जीवन और साहित्य का अध्ययन —नत्थनसिंह

२ आगरा विश्वविद्यालय (पी एच. डी)

सन् १९४७ १ हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास और विकास
—सोमनाथ गुप्त

१९४८ २ हिन्दी-काव्य में प्रकृति चित्रण—श्रीमती किरणकुमारी गुप्ता

३ श्रीगुरु गोरखनाथ और उनका युग
—डी एन डी आचार्य

१९४९ ४ ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन —गौरीशंकर 'सत्येन्द्र'

५ जायसी उनकी कला और दर्शन —जयदेव कुलश्रेष्ठ

१९५१ ६ हिन्दी-साहित्य में अलंकार —ओमप्रकाश कुलश्रेष्ठ

७ कबीर की विचारधारा —डी एन त्रिगुणायत

८ भारतीय साधना और सूर-साहित्य —मुन्शीराम शर्मा

९ हिन्दी-निबन्ध के विकास का आलोचनात्मक अध्ययन
—उमेशचन्द्र त्रिपाठी

१० हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास और विकास
—भगवत्स्वरूप मिश्र

१९५२ ११ रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला —विश्वम्भरनाथ भट्ट

१२ बीसवीं शताब्दी के महा-काव्य —प्रतिपालसिंह

१३ हिन्दी-कविता में शृंगार रस का अध्ययन
—राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

१४ हिन्दी-साहित्य में विविध वाद —प्रेमनारायण शुक्ल

१५ जयशंकरप्रसाद [illegible] उनकी कला सामाजिक विचार और दर्शन —दीनानाथ शुक्ल

१९५३ १६ श्रीमद्भागवत और सूरदास —हरवंशलाल शर्मा

१७ तुलसी-दर्शन —रामदत्त भारद्वाज

१९५४ १८ मध्य पहाड़ी भाषा का आलोचनात्मक अध्ययन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध —गुणानन्द जुयाल

१९ कृष्ण-काव्य में भ्रमरगीत —श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

२० हिन्दी-गद्य-काव्य का आलोचनात्मक और रूपात्मक अध्ययन
—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

२१ घनानन्द और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्य-धारा
—मनोहरलाल गौड़

६० पौराणिकता का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव
—कुमारी इन्द्रावती सिन्हा

६१ मीराबाई —छोटेलाल

६२ हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव
—श्रीमती सरलादेवी

६३ मेरठ-जनपद के लोक-गीतों का अध्ययन
—कृष्णचन्द्र शर्मा

६४ रीति-कविता का आधुनिक हिन्दी-कविता पर प्रभाव
—रमेशकुमार शर्मा

६५ हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-परक कविता का विकास
—बालमुकुन्द गुप्त

६६ स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य —गोपालदत्त शर्मा

६७ हिन्दी में अंग्रेजी से आगत शब्दों का भाषा-तात्विक अध्ययन —कैलाशचन्द्र भाटिया

सन् १९५६

६८ चाचा हित वृन्दावनदास और उनका साहित्य—गोपाल व्यास

६९ आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद —विश्वनाथ गौड़

७० कन्नौजी बोली का अनुशीलन तथा ब्रज से तुलना—राजरत्नलाल शर्मा

७१ आधुनिक हिन्दी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग (१९२ १९५)—गोपालदत्त सारस्वत

७२ कवि पद्माकर तथा उनके रचित ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन —रेवतीसिंह

७३ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में नारी —सरलादेवी

७४ निम्बार्क-सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी-कवि
—एन० डी० शर्मा

७५ हिन्दी-महाकाव्यों में नारी-चित्रण
—श्यामसुन्दर बाबोराम व्यास

७६ महाकवि भानुभक्त के नेपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
—कमलमाया प्रधान

१३३ आधुनिक हिन्दी-काव्य मे यथार्थवाद (भारतेन्दु-युग से १९५० ई. तक की कविता का अध्ययन)
—परशुराम शुक्ल

१३४ आधुनिक हिन्दी काव्य मे वात्सल्य रस —श्रीनिवास शर्मा

१३५ बुलन्दशहर के संस्कार-संबंधी लोक-गीतो का मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के आधार पर अध्ययन —चन्द्रकला त्यागी

१३६ हिन्दी का बारहमासा साहित्य उसका इतिहास तथा अध्ययन —एम एस मजीठिया

१३७ आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य (स. १९ ०-२ ०) का विकास —जगदीशप्रसाद वाजपेयी

१३८ कबीर और कबीर-पंथ का तुलनात्मक अध्ययन
—केदारनाथ दुबे

१३९ रीतिकालीन निर्गुण-भक्ति-काव्य —पेशावीलाल शर्मा

१४ हिन्दी-गद्य-साहित्य मे प्रकृति-चित्रण —ओमप्रकाश

१४१ रामचरितमानस और रामचन्द्रिका का तुलनात्मक अध्ययन —जगदीशनारायण

१४२ अवधी कृष्ण-काव्य की परम्परा मे भक्त कवि मधुदास और उनका काव्य —मुरारीलाल शर्मा

१४३ हिन्दी-भाव-प्रतीक गीत-नाट्य तथा रेडियो-नाटक और उनके लेखक —सत्यप्रकाश

१४४ अयोध्यासिंह उपाध्याय—काव्य-कला और आचार्यत्व
—नारायणदास गुप्त

१४५ पद्मावत मे समाज-चित्रण —गायत्री सिन्हा

१४६ हिन्दी और गुजराती निर्गुण संत-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन —सुशीला मीर

१४७ रामानन्द-सम्प्रदाय के कुछ अज्ञात कवि और उनकी रचनाएँ —गौरीशंकर मेवा

१४८ तुलसीदास और राम-भक्ति-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मलयालम कवि एजुत्तच्छन का तुलनात्मक अध्ययन —एम आर्य

१४९ निज़ामनवद्दीसी और उसकी हिन्दी-परम्परा का लोक साहित्य की दृष्टि से अध्ययन —लक्ष्मीदेवी सक्सेना

	१९	हिन्दी-साहित्य (१९२६ से ४७ तक)—भोलानाथ
	२०	हिन्दी-प्रदेश के हिन्दू पुरुष-नामों का अध्ययन —विद्याभूषण विभु
	२१	हिन्दी-कहानियों की शिल्प-विधि का उद्भव और विकास —लक्ष्मीनारायणलाल
	२२	१६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी की अवस्था का हिन्दी-साहित्य के आधार पर अध्ययन—आनन्दप्रकाश माथुर
१९५३	२३	भोजपुरी लोक-गाथा —सत्यव्रत सिन्हा
	२४	आधुनिक हिन्दी-काव्य और आलोचना पर अंग्रेजी आलोचना का प्रभाव (अंग्रेजी विभाग)—रवीन्द्रसहाय वर्मा
	२५	सिद्ध-साहित्य —धर्मवीर भारती
	२६	हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन —जगदीशगुप्त
१९५४	२७	दक्खिनी के सूफी लेखक —विमला मार्ये
१९५५	२८	हिन्दी और बँगला के वैष्णव कवियों (१६ वीं शताब्दी) का तुलनात्मक अध्ययन —रत्नकुमारी
१९५६	२९	हिन्दी-नीतिकाव्य —भोलानाथ तिवारी
	३०	रीवाँ-दरबार के हिन्दी-कवि —विमला पाठक
१९५७	३१	कबीर की कृतियों के पाठ और समस्याओं का आलोचनात्मक अध्ययन —पारसनाथ तिवारी
	३२	मध्यकालीन काव्य में नारी —उषा पाण्डेय
	३३	हिन्दी-कृष्ण-काव्य पर पुराणों का प्रभाव—शशि अग्रवाल
	३४	डिंगल पद्य-साहित्य —जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव
१९५८	३५	हिन्दी-कथा-साहित्य के विकास पर आंग्ल प्रभाव-(अंग्रेजी विभाग) —उषा सक्सेना
	३६	अवधी ब्रज और भोजपुरी-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन —श्यामाचरण त्रिपाठी
	३७	आगरे जिले की बोली का अध्ययन—रामस्वरूप चतुर्वेदी
	३८	सूरदास की शब्दावली का अध्ययन —निर्मला सक्सेना
१९५९	३९	आदिकाल का हिन्दी-जैन-साहित्य —हरिशंकर शर्मा
	४०	हिन्दी-उपन्यासों पर बँगला-उपन्यासों का प्रभाव —कैलाशचन्द्र सिन्हा

१ इलाहाबाद विश्वविद्यालय (डी० फिल०)

सन्	क्रम	शोध-प्रबन्ध
सन् १९४	१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य (१८५ से १९ तक) —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१९४१	२	हिन्दी-साहित्य का विकास (१९ ०-२५)—श्रीकृष्णलाल
१९४२	३	हिन्दी-काव्य-शास्त्र —जानकीनाथसिंह
१९४३	४	मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन —बालबिहारी गुप्त 'राकेश'
१९४५	५	सूरदास—जीवनी और कृतियों का अध्ययन—ब्रजेश्वर वर्मा
१९४६	६	हिन्दी-काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (१९०५ ई० तक) —ब्रजमोहन गुप्त
१९४७	७	प्रेमाख्यानक हिन्दी-काव्य—पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ
१९४८	८	हिन्दी-साहित्य के भक्ति एवं रीतिकालों में प्रकृति और काव्य —रघुवंश
	९	मैथिली साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (आदि काल से वर्तमान समय तक) और उस पर अंग्रेजी का प्रभाव (अंग्रेजी विभाग) —जयकान्त मिश्र
	१०	हिन्दी-समाचारपत्रों का इतिहास—रामरतन भटनागर
	११	हिन्दी-सन्तों पर वेदान्त-पद्धतियों का प्रभाव—शीलवती मिश्र
१९४९	१२	रामकथा—उत्पत्ति और विकास —कामिल बुल्के
	१३	आधुनिक हिन्दी-काव्य (१९ ०-१९४५) में नारी-भावना —शैलकुमारी माथुर
१९५	१४	अंग्रेजी का हिन्दी-भाषा और साहित्य पर प्रभाव — विश्वनाथ मिश्र
१९५१	१५	आजमगढ़ जिले की तहसील फूलपुर के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन —हरिहरप्रसाद गुप्त
	१६	प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव —रामसिंह तोमर
	१७	अंग्रेजी-नाटकों का हिन्दी-नाटकों पर प्रभाव (अंग्रेजी विभाग) —धर्मकिशोरलाल
१९५२	१८	हिन्दी-वीर काव्य (१६ से १८ ई०) —टीकमसिंह तोमर

२० कृष्ण-काव्य में मधुर भाव (रस) —पूर्णमासी राय

२१ कबीर-बीजक की व्याख्याओं का दार्शनिक अध्ययन —गिरीशचन्द्र तिवारी

१९५९ २२ मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद —कपिलदेव पाण्डेय

२३ 'श्री गुरुग्रन्थ साहब' में उल्लिखित कवियों के दार्शनिक विश्वासों का अध्ययन —धर्मपाल मैनी

२४ लक्षणा और उसका प्रसार —राममूर्ति त्रिपाठी

२५ मध्यकालीन काव्य में लोकतत्त्व —रवीन्द्र भ्रमर

१९६० २६ हिन्दी-गद्य-शैली का विकास—विजयशंकर मल्ल

२७ नाथ और सन्त-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन —नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

२८ आधुनिक हिन्दी-काव्य में सम्मूर्तन (इमेजरी) —केदारनाथसिंह

२९ हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक उनकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ और प्रेरक शक्तियाँ —नवरत्न कपूर

३० मध्यवर्ग का उदय तथा हिन्दी-उपन्यासों पर उसका प्रभाव —रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

३१ हिन्दी-काव्य को काशी की देन —मार्कण्डेयसिंह

३२ तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा —श्रीधरसिंह

३३ म प्र क शासन की शिक्षानीति और हिन्दी-भाषा और साहित्य के विकास में उसका योगदान —सुदर्शनसिंह

३४ जायसी-पूर्व मसनवी —विश्वनाथ त्रिपाठी

३५ हिन्दी और कन्नड़ के महाकाव्यों के रचना-विधान का आलोचनात्मक अध्ययन —वेंकट सुब्बाराव कदम

३६ भारतेन्दुयुग के लघु महारथी —श्याम तिवारी

३७ हिन्दी में शब्द और अर्थ का मनोवैज्ञानिक अध्ययन —उषा मालवेन

३८ हिन्दी-नाटकों में यथार्थवाद —कमलिनी मेहता

३९ हिन्दी-काव्य की निर्गुण धारा में भक्ति का स्वरूप —श्यामसुन्दर शुक्ल

१९५६	६	राधावल्लभ-सम्प्रदाय—सिद्धान्त और अध्ययन	—विजयेन्द्र स्नातक
	७	सूर की काव्यकला	—मनमोहन गौतम
	८	हिन्दी-रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य	—सत्यदेव चौधरी
१९५७	९.	मैथिलीशरण गुप्त—कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता	—उमाकान्त गोयल
१९५८	१	रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	—उमा मिश्र
	११	मतिराम-कवि और आचार्य	—महेन्द्रकुमार
	१२	भक्तिकालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य पर पौराणिक प्रभाव (संस्कृत-विभाग)	—सदानन्द भदान
१९५९	१३	आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त	—सुरेशचन्द्र गुप्त
	१४	रामकाव्य की परम्परा में रामचन्द्रिका का विशिष्ट अध्ययन	—गार्गी गुप्त
	१५	प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी-उपन्यास	—कैलाश प्रकाश
	१६	हिन्दी में गीति-काव्य का विकास	—रामस्वरूप शास्त्री
	१७	आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरहभावना	—मधुरमालतीसिंह
	१८	गुरुमुखीलिपि में उपलब्ध हिन्दी-कविता (१७-१८ वीं शती)	—हरमहेन्द्रसिंह
१९६	१९	हिन्दी के भक्तिकालीन कृष्णभक्ति-साहित्य में रीतिकाव्य परम्परा	—राजकुमारी मित्तल
	२	आधुनिक हिन्दी और मराठी के काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन	—मनोहर काले
	२१	हिन्दी-कविता में कलावादी प्रवृत्तियाँ	—रामसिंह चौहान
	२२	रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव	—विजयबहादुर अवस्थी
	२३	प्रेमचन्द के परवर्ती हिन्दी-उपन्यास	—शिव भार्गव
	२४	हिन्दी-काव्यशास्त्र में दोष-निरूपण	—रघुवीरसिंह
१९६१	२५	ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्यभक्ति (१५५०—१६५)	—स्वरूप नारायण
	२६	हिन्दी-साहित्य और भाषा के विकास में पत्रिकाओं का योगदान	—विमलारानी

१९६	१५	मध्ययुगीन और आधुनिक हिन्दी-कविता में पेड़-पौधे और पशु-पक्षी —विद्याभूषण यमन
	१६	मध्यकालीन हिन्दी और पंजाबी सन्तों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन —सुदर्शनसिंह मजीठिया
	१७	आधुनिक हिन्दी-नाटकों में नारी-चित्रण —कुमारीलीला अवस्थी
१९६१	१८	हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का विकास—ओंकारनाथ शर्मा
१९६२	१९	संत-कवि सिंगाजी—जीवन और कृतियाँ —रामचन्द्र धमराते
	२	हिन्दी और मराठी कथा-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन —गौरीशंकर शेष
	२१	हिन्दी-सूफी-काव्य की भूमिका सूफीमत साधना और साहित्य —रामपूजन तिवारी

९ पंजाब विश्वविद्यालय

१९१८	१	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ—इन्द्रनाथ मदान
१९४५	२	महाकवि वरक सुन्दा पेमी कृत पेम प्रकाश का अनुसंधान सम्पादन और अध्ययन —लक्ष्मीधर शास्त्री
१९४६	३	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र —शिवनारायण बोहरा
१९५१	४	भ्रमर का श्यामसनेही —शरणदास भनोत
१९५२	५	हिन्दी-नाटक का उद्भव और विकास —वेदपाल खन्ना
१९५४	६	सूर के दृष्टिकूट पद—रामधन शास्त्री
१९५७	७	रीति-काव्य के संदर्भ में केशवदास का अध्ययन —किरणचन्द्र शर्मा
१९५८	८	पृथ्वीराजरासो के लघुतम संस्करण का अध्ययन और उसके पाठ का आलोचनात्मक सम्पादन —बेणीप्रसाद
	९	हिन्दी-उपन्यास में नायक की परिकल्पना—भीष्म साहनी
	१	हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य —गोविन्दराम शर्मा
	११	हिन्दी काव्य में अन्योक्ति —संसारचन्द
	१२	दसम ग्रन्थ का कवित्व —धर्मपाल मैनी
१९५९	१३	हिन्दी-काव्य में शृंगार-परम्परा और बिहारी —गणपतिचन्द्र गुप्त

११ भागलपुर विश्वविद्यालय

१९५१ १ देवनागरी लिपि-ऐतिहासिक तथा भाषा वैज्ञानिक अध्ययन —शिवशंकरप्रसाद वर्मा

१९५१ २ हरिभद्र के प्राकृत-कथा-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन —नेमिचन्द्र शास्त्री

१२ राजस्थान विश्वविद्यालय

१९४९ १ हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव —सरनामसिंह शर्मा

१९५ २ द्विवेदीयुग में हिन्दी-कविता का पुनरुत्थान (१९ १ २) —बालदत्त मिश्र 'सुमित्र'

१९५२ ३ नागरीदास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावो एवं प्रतिक्रियाओ का अध्ययन —कैलाशकुमारी

४ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—भोलाशंकर व्यास

५. ब्रजभाषा-साहित्य को राजस्थान की देन —मोतीलाल मेनारिया

१९५४ ६ आधुनिक हिन्दी-कविता मे प्रतीकवाद के प्रकार—कमलकला

१९५५ ७ राजस्थानी कहावतो की गवेषणा और वैज्ञानिक अध्ययन —कन्हैयालाल सहल

८ राजस्थान के राजघरानाद्वारा हिन्दी-साहित्य की सेवाएं तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन—राजकुमारी शिवपुरी

९ आधुनिक हिन्दी-काव्य में समाज (१८५०—१९५) —गायत्री देवी वैश्य

१ आधुनिक हिन्दी-साहित्य को मलय प्रदेश की देन —मोतीलाल गुप्त

११ आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान —देवराज उपाध्याय

१२ राजस्थानी के गद्य-साहित्य का इतिहास और विकास —शिवस्वरूप शर्मा

१९५७ १३ जयशंकरप्रसाद के ऐतिहासिक नाटक—जगदीशचन्द्र जोशी

१४ हिन्दी में एकांकी नाटक —रामचरण महेन्द्र

	१५	परमानन्ददास-जीवनी और कृतियाँ—श्यामशंकर दीक्षित
	१६	सत्यं शिवं सुन्दरम् —रामानन्द तिवारी
१९५६	१७	गुजरात की हिन्दी-सेवा —अम्बाशंकर नागर
	१८	आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास —[illegible]ट शर्मा
	१९	राजस्थानी लोक-गीत —स्वर्णलता अग्रवाल
	२	आधुनिक हिन्दी साहित्य म [illegible] के विकास का विवेचनात्मक अध्ययन —सीता [illegible]
१९६	२१	हिन्दी गद्य का शैशव-काल —माधुरी दुबे
१९६१	२२	हिन्दी-गद्य (भाषा और साहित्य) का निर्माण एवं विकास देश के सुधारवादी और राजनीतिक आन्दोलन के प्रकाश मे परीक्षण (अप्रकाशित) —मनमोहन शर्मा
	२३	रामचरितमानस के विशिष्ट सन्दर्भ म तुलसीदास का शिक्षा दर्शन —रघुनाथ शर्मा
	२४	मध्यकालीन हिन्दी-कविता मे दोहा —सत्यवती गोयल
	२५	आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विचार धारा —हरिश्चन्द्र पुरोहित
१९६२	२६	राजस्थान के चारणो का डिंगल साहित्य मे योगदान —मोहनलाल

११ लखनऊ विश्वविद्यालय

१९४९	१	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—उदयभानुसिंह
१९५०	२	हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास—भगीरथ मिश्र
१९४८	३	सन्तकवि मलूकदास —त्रिलोकीनारायण दीक्षित
१९४९	४	अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि —सरयूप्रसाद अग्रवाल
१९५	५	आचार्य केशवदास–एक अध्ययन —हीरालाल दीक्षित
१९५१	६	हिन्दी कवियो के प्र माख्यान —हरिकान्त श्रीवास्तव
	७	भोजपुरी लोकसाहित्य —कृष्णदेव उपाध्याय
१९५२	८	मध्ययुगीन [illegible]-भारतीय इतिहास के स्रोत-रूप मे (इतिहास-विभाग) —[illegible]
१९५३	९	आचार्य भिखारीदास —नारायणदास खन्ना
	१	आधुनिक हिन्दी-कविता मे छन्द —पुत्तूलाल शुक्ल

	५३	ऐतिहासिक हिन्दी-नाटकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन	—रामकिशोरी
	५४	हिन्दी का समस्यापूर्ति-साहित्य	—दयाशंकर शुक्ल
	५५.	हिन्दी-उपन्यास में नैतिकता	—मुकुन्ददेव शुक्ल
	५६	बाबरी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि	—भगवतीप्रसाद शुक्ल
	५७	हिन्दी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव	—शिवस्वरूप सक्सेना
	५८	मिश्रबन्धु और उनका साहित्य	—सरोजनी श्रीवास्तव
१९६२	५९	हिन्दी उपन्यास की शिल्पविधि का विकास	—ओम शुक्ल
	९	भक्तियुगीन साहित्य में नारी	—शान्ति श्रीवास्तव
	११	दुर्गा बल प्रदेश की भौगोलिक एवं कृषि-शब्दावली	—रामसिंह
	१२	तुलसी का सामाजिक दर्शन	—विष्णुशर्मा मिश्र
	१३	बीसवीं सदी का रामकाव्य	—शुकदेवलाल कपूर
	१४	आधुनिक हिन्दी-कविता में भौतिकभावना	—सरोजिनी अग्रवाल
	१५	सुजान-हरण सुजान चरित्र और उसकी भाषा	—त्रिलोकीनाथसिंह
	१६	जायसी की भाषा	—प्रभाकर शुक्ल
	१७	हिन्दी में रामलीला-साहित्य	—कुमारी रमासिंह

१४ विश्वभारती विश्वविद्यालय

१९६२	१	कुरमाली बोली	—नन्दकिशोर सिंह

१५ सागर विश्वविद्यालय

१९५२	१	भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	—वीरेन्द्र शुक्ल
१९५६	२	प्रसाद का काव्य	—प्रेमशंकर
१९५७	३	भारतेन्दुयुग के नाटककार	—वासुदेव शुक्ल
	४	मैथिलीशरण गुप्त—जीवनी और काव्य का अध्ययन	—कमलाकान्त पाठक
	५.	आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त	—रामलाल सिंह

२५. बीसवीं शताब्दी की सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव
—रामचरण मिश्र

२६ आधुनिक काव्य और काव्य-वादों का अध्ययन
—राजेन्द्रप्रसाद मिश्र

२७ आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास
—सुरेशचन्द्र जैन

१६ पूना विश्वविद्यालय

१९५७ १ दक्खिनी हिन्दी की रचनाओं (इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के शासन-काल में रचित 'इब्राहीम नामा' और 'किताबे नवरस') का आलोचनात्मक अध्ययन
—उषा दवाले

१७. बिहार विश्वविद्यालय

१९५८ १ राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना
—भुवनेश्वरनाथ मिश्र

१९५९ २ प्रसाद जी की काव्य-प्रवृत्ति —कामेश्वरप्रसाद सिंह

१९६० ३ आधुनिक हिन्दी-आलोचना —हरिमोहन मिश्र

१८ मद्रास विश्वविद्यालय

१९५९ १ कंब-रामायणम् और तुलसी-रामायण का तुलनात्मक अध्ययन —सु. शंकरराजू नायडू

१९. उस्मानिया विश्वविद्यालय

१९५९ १ दक्खिनी का आरम्भिक गद्य —राजकिशोर पाण्डेय

१९६१ २ कविवर (कबीर-सूर-तुलसी) —सामाजिक पक्ष
—[illegible] वेंकटरमण

२० विक्रम विश्वविद्यालय

१९६१ १ हिन्दी के निर्गुण संत कवियों पर नाथपंथ का प्रभाव
—कोमलसिंह सोलंकी

२१ बड़ौदा विश्वविद्यालय

१९६२ १ चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके काल के [illegible]
—[illegible]

२५. बीसवीं शताब्दी की सामाजिक राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा उनका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव
—रामकरण मिश्र

२६ आधुनिक काव्य और काव्य-वादों का अध्ययन
—राजेन्द्रप्रसाद मिश्र

२७ आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास
—सुरेशचन्द्र जैन

१६ पूना विश्वविद्यालय

११५७ १ दक्खिनी हिन्दी की रचनाओं (इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के शासन-काल में रचित 'इब्राहीम नामा' और 'किताबे नवरस') का आलोचनात्मक अध्ययन
—उषा दवाले

१७. बिहार विश्वविद्यालय

११५८ १ राम-भक्ति साहित्य में मधुर उपासना
—भुवनेश्वरनाथ मिश्र

११५९ २ प्रसाद जी की काव्य-प्रवृत्ति —रामेश्वरप्रसादसिंह

११६१ ३ आधुनिक हिन्दी-आलोचना —हरिमोहन मिश्र

१८ मद्रास विश्वविद्यालय

११५९ १ कंब-रामायणम् और तुलसी-रामायण का तुलनात्मक अध्ययन —मु. शंकरराजू नायडू

१९. उस्मानिया विश्वविद्यालय

११५९ १ दक्खिनी का प्रारम्भिक पद्य —राजकिशोर पाण्डेय

११६१ २ कवित्रय (कबीर-सूर-तुलसी) —सामाजिक पक्ष
—समुद्रम वेंकटरमण

२०. विक्रम विश्वविद्यालय

११६१ १ हिन्दी के निर्गुण संत कवियों पर नाथपंथ का प्रभाव
—कोमलसिंह सोलंकी

२१ बड़ौदा विश्वविद्यालय

११६२ १ जगन्नाथपुर बीबी और उनके मण्डल के कवि
—महेन्द्रप्रतापसिंह

२२ राँची विश्वविद्यालय

१९६२ १ भोजपुरी मुहावरों का सांस्कृतिक अध्ययन
—सत्यदेव ओझा

विदेशी विश्वविद्यालय

(डी डी की उपाधि के लिये)

१९१८ १ तुलसीदास का धर्म-दर्शन—जे एन कारपेन्टर (लन्दन)

(डी लिट की उपाधि के लिये)

१९१५ १ ब्रजभाषा —धीरेन्द्र वर्मा (पेरिस)

१९५ २ रामचरितमानस के स्रोत एवं रचनाक्रम
—कुमारी शार्लोट वोदवील (पेरिस)

(पी एच डी उपाधि के लिये)

१९११ १ रामचरितमानस और रामायण—एल पी तेस्सितोरी (फ्लोरेंस)

१९३ २ हिन्दुस्तानी ध्वनियों का अनुसंधान—मोहिउद्दीन कादिरी (लन्दन)

१९३१ ३ कबीर तथा उनके अनुयायी—एफ ई के (लन्दन)

१९३४ ४ सूरदास का धार्मिक काव्य—जनार्दन मिश्र-(कोनिग्सबर्ग)

१९४१ ५ मलिक मुहम्मद जायसी-कृत पद्मावत का आलोचनात्मक-सम्पादन और अनुवाद (१६ वीं शताब्दी की हिन्दी-भाषा अवधी का अध्ययन) —(लन्दन)

१९४९ ६ हिन्दी साहित्य में महाकाव्य—हरिदत्त राय (लन्दन)

१९५ ७ भोजपुरी ध्वनियाँ और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन—विश्वनाथ प्रसाद (लन्दन)
मध्यकालीन छन्द का ऐतिहासिक विकास—बागेश्वरी सिंह (लन्दन)

१९५५ ८. हिन्दी गद्य का विकास—शारदा वेदालंकार (लन्दन)

१९५६ १ अवधी-भाषा का रचनात्मक व्याकरण
—अमरबहादुर सिंह (पिलानीनिया)